त्रयोदशोऽध्यायः

ऋषिः—वत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्चीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु का ग्रहण

मयि गृह्णाम्यग्रेऽअग्निꣳरायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय।
मामु देवताः सचन्ताम्॥१॥

बारहवें अध्याय की समाप्ति पर प्रभु का स्मरण करते हुए कहा गया था कि **'सम्राडेको विराजति'**=वह प्रभु ही सम्राट् हैं, अद्वितीय हैं, सारे संसार का शासन करते हैं। उसी प्रभु का उपासन करता हुआ प्रभु-भक्त कहता है कि मैं **अग्रे**=सबसे पहले **मयि**=अपने अन्दर **अग्निं गृह्णामि**=सब उन्नतियों के साधक प्रभु का ग्रहण करता हूँ। मेरी सर्वोपरि इच्छा यही होती है कि मैं प्रभु को अपने अन्दर धारण कर सकूँ। २. **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए मैं प्रभु को धारण करता हूँ। वे प्रभु ही लक्ष्मी-पति हैं—मा-धव हैं। प्रभु को धारण करने से मैं भी लक्ष्मी को प्राप्त करता हूँ और वस्तुतः प्रभु अपने भक्तों के योगक्षेम का तो अवश्य ध्यान करते ही हैं। ३. **सुप्रजास्त्वाय**=उत्तम प्रजावाला होने के लिए मैं प्रभु का धारण करता हूँ। प्रभु के धारण से सब अशुभवृत्तियाँ दूर हो जाती हैं और परिणामतः पवित्र हृदयोंवाले पति-पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देते हैं। ४. **सुवीर्याय**=उत्तम वीर्य के लिए मैं प्रभु का धारण करता हूँ। प्रभु का धारण मुझे वासनाशून्य बनाता है और इस वासनाशून्यता के परिणामरूप मैं उत्तम वीर्यवाला बनता हूँ। इस उत्तम वीर्यवाला होने से मैं प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वत्सार' बनता हूँ। सुरक्षित किया है सारभूत शक्ति को जिसने। ५. मैं इस वीर्य-रक्षा को इसलिए चाहता हूँ कि **माम्**=मुझे **उ**=निश्चय से **देवताः**=सब दिव्य गुण **सचन्ताम्**=प्राप्त हों। प्रभु महादेव हैं। प्रभु के धारण से अन्य देवों का धारण तो हो ही जाता है।

भावार्थ—यदि हम अपने में प्रभु को धारण करेंगे तो १. हम धन का पोषण करनेवाले होंगे २. हमारी सन्तान उत्तम होगी ३. हम उत्तम वीर्य का पोषण करेंगे ४. दिव्य गुणों के धारणवाले होंगे।

ऋषिः—वत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु की महिमा

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ२॥ऽआ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व॥२॥

१. मन्त्र का ऋषि 'वत्सार' प्रभु को अपने में धारण करना चाहता है। गत मन्त्र में उसने स्पष्ट कहा है कि मेरी सर्वप्रथम इच्छा यही है कि मैं अपने अन्दर प्रभु को ग्रहण करूँ, अतः वह प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि **अपां पृष्ठम् असि**=आप जलों के आधार हो। 'वरुण' नाम से आप जलों के पतिरूप में कहे जाते हो। आपका नाम ही 'अप्पति' हो गया है। ये जल अपनी अद्भुत रचना से हमें आपकी महिमा का स्मरण कराते हैं। जल की अवयवभूत 'उद्रजन' ज्वलनशील है 'अम्लजन' ज्वलन की पोषक है। इन्हें

मिलानेवाली विद्युत् है। एवं, सब अग्नि-ही-अग्नि है, परन्तु इनसे उत्पन्न होनेवाला जल अग्नि को शान्त करनेवाला है, इस प्रकार उष्णता से शीतता की उत्पत्ति होती है। कितना आश्चर्य है! २. **अग्नेः योनिः**=हे प्रभो ! आप ही अग्नि के भी उत्पत्तिकारण हैं। अग्नि को भी आप ही जन्म देते हैं। द्युलोक में यह अग्नि सूर्यरूप से है, अन्तरिक्षलोक में विद्युद्रूप से और इस पृथिवी पर उसका नाम 'अग्नि' है। एवं, लोकत्रयी में व्याप्त होनेवाली अग्नि वस्तुतः 'जातवेद' है—प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। ३. **अभितः**=पृथिवी पर चारों ओर से **पिन्वमानम्**=नदी-जलों से सींचे जाते हुए अथवा बढ़ते हुए **समुद्रम्**=समुद्र को **वर्धमानः**=बढ़ानेवाले आप ही हो। वृष्टि के द्वारा नदियाँ प्रवाहित होती हैं। इन नदियों से समुद्र का पूरण होता है। ४. **महान्**=हे प्रभो! आप सचमुच महान् हो। क्या जल, क्या अग्नि, क्या समुद्र—सभी आपकी महिमा का गायन करते हैं। ५. हे प्रभो! आप **पुष्करे**=कमलवत् निर्लेप मेरे हृदयाकाश में, अथवा आपकी भावना का पोषण करनेवाले इस हृदय में **दिवः मात्रया**=ज्ञान की मात्रा से, ज्ञान की मापनशक्ति से तथा **वरिम्णा**=विस्तार से, उदारता से **आप्रथस्व**=व्याप्त होओ, प्रसिद्ध होओ, विस्तृत होओ, अर्थात् मैं ज्ञान तथा हृदय की विशालता और पवित्रता से आपका दर्शन कर पाऊँ।

भावार्थ—जलों में, अग्नि में व समुद्रों में प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है। मैं अपने ज्ञान को बढ़ाकर पवित्र व विशाल हृदय में प्रभु का दर्शन करूँ।

ऋषिः—वत्सारः। **देवता**—आदित्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ब्रह्म-दर्शन

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒नऽआ॑वः।
स बु॒ध्न्या॒ऽउप॒माऽअ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ विवः॑॥३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जिस प्रभु की महिमा का गायन जल, अग्नि व समुद्र कर रहे हैं, वह **ब्रह्म**=(बृहि वृद्धौ) सदा वृद्ध हैं, सदा से बढ़े हुए हैं, उनमें कोई वृद्धि नहीं होती रहती, क्योंकि वे तो पहले से ही पूर्ण हैं। २. **पुरस्तात् जज्ञानम्**=वे सृष्टि बनने से पहले ही जायमान हैं, अर्थात् वे कभी उत्पन्न नहीं हुए। यही भावना अगले मन्त्र में 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' शब्दों से कही जाएगी। ३. **प्रथमम्**=वे प्रभु सर्वत्र विस्तृत हैं, सर्वव्यापक हैं। एवं, प्रभु पूर्ण हैं, अनादि व आजन्मा है और सर्वव्यापक हैं। ४. इस प्रभु को **सुरुचः**=उत्तम रुचिवाला अथवा उत्तम ज्ञान-दीप्तिवाला **वेनः**=मेधावी पुरुष **सीमतः**=(मर्यादातः—उ०) सीमा में, मर्यादा में रहने के द्वारा **वि आवः**=अपने हृदयाकाश में प्रकट करता है, अर्थात् उस प्रभु के दर्शन कर पाता है। ५. **सः**=यह मेधावी पुरुष **बुध्न्याः**=(बुध्न=अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में होनेवाली भूमियों को, प्राणियों के निवास-स्थानों को भी **विवः**=अपने मस्तिष्क में प्रकाशित करता है, अर्थात् इन सब भूमियों के ज्ञान को प्राप्त करता है। इनके ज्ञान से ही तो वह इनमें प्रभु की महिमा व रचना-कुशलता को देख पाता है। ये मेधावी **विष्ठाः**=अन्तरिक्ष के विविध स्थानों—लोकों में स्थित **अस्य**=इस दृश्य कारणजगत् के **योनिम्**=आधारभूत उस प्रभु को **विवः**=अपने हृदय-देश में प्रकाशित करता है। 'इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' यह सारा जगत् तो उस प्रभु का उपव्याख्यान ही है।

भावार्थ—प्रभु पूर्ण, अनादि व अजन्मा है। प्रभु का दर्शन परिष्कृत इच्छाओंवाले, ज्ञान से दीप्त मेधावी को होता है। वह मेधावी प्रभु के बनाये लोक-लोकान्तरों का ज्ञान प्राप्त

करता है और उन लोकों की अद्भुत रचना में परमेश्वर की महिमा को अनुभव करता है।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

हिरण्यगर्भ

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥४॥

१. गत मन्त्र का ऋषि 'वत्सार' प्रभु का स्तवन 'हिरण्यगर्भ' शब्द से करता है और स्वयं भी 'हिरण्यगर्भ' नामवाला हो जाता है। यह हिरण्यगर्भ प्रभु द्वारा इस सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख करता हुआ कहता है कि **हिरण्यगर्भः**=सूर्यादि ज्योतिर्मय सब पदार्थ जिसके गर्भ में हैं, वह हिरण्यगर्भ=ज्ञान-धन प्रभु **अग्रे समवर्त्तत**=सृष्टि बनने से पहले से है। सृष्टि से पूर्व है, वह बनता नहीं, तभी तो सबको बनाता है। अनादि होता हुआ वह इन सूर्यादि सबका आदि है। स्वयं अयोनि होता हुआ 'जगद्योनि' हो रहा है—'जगद्योनिरयोनिरूपम्'। २. **भूतस्य**=प्रत्येक प्राणी का अथवा भूत-भव्य का **जातः**=(जनकः—द०) उत्पन्न करनेवाला वह प्रभु **एकः पतिः**=सहाय-निरपेक्ष, अद्वितीय (मुख्य) स्वामी व रक्षक **आसीत्**=था और है। इस चराचर जगत् के रक्षणकार्य में प्रभु को किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। ३. वह प्रभु ही **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=सूर्यादि से जगमगाते द्युलोक को **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवीलोक को **दाधार**=धारण करता है। सम्पूर्ण सृष्टि का धारण तो वह कर ही रहा है, साथ ही जैसे प्रारम्भ में यह सारी सृष्टि उस प्रभुरूप आधार से प्रकट होती है, उसी प्रकार अन्त में उसी में विलीन होकर प्रकृतिरूप से रहती है। प्रकृति का धारण करनेवाला भी वह प्रभु ही है। ४. **कस्मै**=उस जगद्रूप क्रीड़ा करनेवाले आनन्दमय प्रभु के लिए **देवाय**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज के लिए अथवा जीवों को सब उन्नति-साधनों को देनेवाले के लिए (देवो दानात्) **हविषा**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=पूजा करें। वह पूज्य प्रभु तो वस्तुमात्र के देनेवाले हैं, सब-कुछ देनेवाले हैं। हम उस प्रभु की उपासना कुछ देकर ही तो कर सकेंगे, अतः प्रभु का उपासक यज्ञ करके सदा यज्ञशेष ही खाता है। यह यज्ञशेष उस उपासक के लिए 'अमृत' होता है।

भावार्थ—वे प्रभु जगत् की योनि, उत्पादक और धारक हैं। मैं उस आनन्दमय देव की उपासना स्वयं देव बनकर—देनेवाला, दानी व प्रकाशमय जीवनवाला बनकर करूँ।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

'द्रप्सोपासना'

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः॥५॥

१. **द्रप्सः**=(दृप=हर्ष) वे आनन्दमय प्रभु **पृथिवीम् अनु**=इस सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में (महीधर) व्याप्त होकर **चस्कन्द**=गति कर रहे हैं। **द्याम्**=द्युलोक में व्याप्त होकर गति कर रहे हैं। **इमं च योनिं अनु**=और इस सम्पूर्ण संसार के मिश्रण व अमिश्रण, संयोग और वियोग की कारणभूत पृथिवी में व्याप्त होकर गति कर रहे हैं। २. **यः च पूर्वः**=वे प्रभु इन सबसे पहले हैं, वे प्रभु सृष्टि बनने से भी पहले हैं, उनकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई। सदा से वर्त्तमान वे प्रभु इन लोकों का निर्माण करते हैं और इनमें व्याप्त होकर गति कर रहे

हैं। ३. उस **समानं योनिम्**=सब प्राणियों को प्राणित करनेवाले (सम् आनयति इति समानः) सबके उत्पत्ति-स्थान **अनुसञ्चरन्तम्**=सब लोकों में व्याप्त होकर गति करते हुए **द्रप्सम्**=उस आनन्दमय प्रभु को **जुहोमि**=अपने अन्दर आहुत करता हूँ। जैसे अग्नि घृत को धारण करती है और उस घृत से दीप्त होती है, इसी प्रकार मैं प्रभु को धारण करता हूँ और उससे मेरा हृदयाकाश जगमगा उठता है। ४. हे प्रभो! आपकी कृपा से **सप्त होत्राः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, छठा मन और सातवीं बुद्धि, ये सातों मुझमें ज्ञान की आहुति देनेवाले होकर **अनु**=मेरे अनुकूल हों। इनसे ज्ञान का भोजन ग्रहण करता हुआ मैं अपने ज्ञान को दीप्त कर सकूँ।

भावार्थ—वे प्रभु द्रप्स हैं, आनन्दमय हैं। सब लोकों में व्याप्त होकर गति कर रहे हैं। सभी प्राणियों को प्राणित करनेवाले हैं। उस प्रभु को मैं अपने अन्दर धारण करता हूँ, जिससे सब ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धि मेरे अनुकूल हों और मेरा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—हिरण्यगर्भः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

सर्पेभ्यो नमः

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
येऽअन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में सर्प शब्द का अर्थ 'सर्पतिर्गतिकर्मा' २।१४—नि०, 'इमे लोकाः वै सर्पा यद्धि किञ्च सर्पस्येष्वेव वै लोकेषु सर्पति'—श० ७।४।१।१७ इन वाक्यों के अनुसार ये सब लोक-लोकान्तर हिरण्यगर्भ से ही बनाये गये हैं। ये गतिमय हैं, अतः सर्प कहलाते हैं। सब प्राणी भी इन्हीं में रहकर गति कर रहे हैं। २. **ये के च**=जो कोई भी लोक **पृथिवीम् अनु**=पृथिवी के अनुगत हैं, इस पृथिवी के समान ही प्राणियों की उत्पत्ति-स्थिति का स्थान बने हुए हैं, ३. **ये अन्तरिक्षे**=जो लोक इस विशाल अन्तरिक्ष में विद्यमान हैं, ४. **ये दिवि**=जो लोक देदीप्यमान द्युलोक में अवस्थित हैं, ५. **तेभ्यः सर्पेभ्यः**=उन सब लोक-लोकान्तरों से हमें **नमः**=अन्न की प्राप्ति हो। **नमः सर्पेभ्यः अस्तु**=हम उन लोकों के प्रति नतमस्तक होते हैं। उन लोकों में विद्यमान प्रभु की महिमा को देखकर हमारा मस्तक झुक जाता है। ६. पृथिवी पर तो अन्न उत्पन्न होता ही है, अन्तरिक्षस्थ मेघ वृष्टि के द्वारा उस अन्न की उत्पत्ति का कारण बनता है और द्युलोकस्थ सूर्य अन्तरिक्ष में मेघों के निर्माण का कारण बनता है। इस प्रकार ये सब लोक हमें अन्न प्राप्त कराते हैं, अतः मन्त्र में कहा है कि 'इन लोकों' से हमें अन्न प्राप्त हो। इस सारी व्यवस्था को देखकर हमें उस प्रभु की महिमा का दर्शन व स्मरण होता है। हम नतमस्तक हो जाते हैं और 'नमोऽस्तु ते' कह उठते हैं।

भावार्थ—लोकत्रयी में निर्मित सभी पिण्ड प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं और उन लोकों के द्वारा हमारी अन्न-प्राप्ति की सुन्दर व्यवस्था हो रही है।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—हिरण्यगर्भः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

'असुर्य लोक'

याऽइषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँ१॥ऽरनु।
ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥७॥

१. गत मन्त्र के 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' में होनेवाले लोकों के अतिरिक्त कुछ वे लोक भी हैं जो **'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः'**=अन्ध-तमस् से

आवृत हैं। इन लोकों में वे जाया करते हैं जो आत्मघाती हैं। **याः**=जो **यातुधानानाम्**=औरों में पीड़ा का आधान करनेवाले लोगों के **इषवः**=गति-स्थान हैं (इष्यते गम्यते येषु, इषवः गतयः—द०)। २. **ये वा**=अथवा जो **वनस्पतीन् अनु**=वनस्पतियों के आश्रित हैं, अर्थात् घने जङ्गलों से जो लोक घिरे हैं। ३. **वा**=या **ये**=जो **अवटेषु**=गढों में **शेरते**=निवास करते हैं, अर्थात् सामान्य भाषा में जिन्हें पाताललोक व नागलोक कहते हैं **तेभ्यः सर्पेभ्यः**=उन सब लोकों के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ४. प्रभु ने राक्षसों-पिशाचों के हित के लिए इन 'असुर्य—अन्धकारमय' लोकों का निर्माण किया है। मृत्यु के बाद ये इन अन्धतमस् लोकों में जाते हैं और वहाँ एक बार सब अशुभ संस्कारों को भूलकर फिर इस पृथिवी पर जन्म लेते हैं।

भावार्थ—यातुधानों—राक्षसों के गतिरूप वे अन्धकारमय लोक हैं जहाँ घने जङ्गल व गर्त-ही-गर्त हैं। इनमें अन्य व्यक्तियों से दूर रहते हुए वे पीड़ा देने की वृत्ति को भूल रहे होते हैं।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्रकाशमय लोक

ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥८॥

१. गत मन्त्र में पृथिवीलोक से निचले असुर्यलोकों का वर्णन किया है। प्रस्तुत मन्त्र में उन प्रकाशमय लोकों का उल्लेख करते हैं जिनमें कि 'योगयुक्त परिव्राट् व रण में पीठ न दिखानेवाले क्षत्रिय' जाया करते हैं। २. **ये वा**=जो लोक **अमी**=दूर स्थित हैं, **दिवः**=द्युलोक के **रोचने**=दीप्त स्थान में हैं, जहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है। ३. **वा**=अथवा **ये**=जो **सूर्यस्य रश्मिषु**=सूर्य की किरणों में ही स्थित हैं, जहाँ सदा सूर्य-किरणों का निवास है। ४. **येषाम्**=जिनका **सदः**=स्थापन—स्थिति **अप्सु कृतम्**=जलों में की गई है, अर्थात् जहाँ पानी की कमी नहीं अथवा जहाँ पृथिवी-तत्त्व की प्रधानता न होकर जल-तत्त्व की प्रधानता है **तेभ्यः सर्पेभ्यः**=उन लोकों के लिए **नमः**=हम झुकते हैं। उन लोकों में एक अद्भुत आकर्षण है। उनकी दीप्ति हमें नतमस्तक कर देती है। उनमें तो लोग 'स्वयैव प्रभया' अपने देह की प्रभा से ही प्रकाशित होते हैं। क्या आश्चर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही एक दीपक है!

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम उत्तम कर्म करके उन प्रकाशमय लोकों को प्राप्त करें, जिनमें सूर्य का प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है और जल शान्ति का। जहाँ ज्ञान है, शान्ति है।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

बन्धन-विनाश, ग्रन्थि-विनाश

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ२॥ऽइभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥९॥

१. गत मन्त्र में हिरण्यगर्भ प्रकाशमय लोकों में पहुँचने की कामना करता है, जिन लोकों में 'ज्ञान है, शान्ति' है। ऐसा व्यक्ति ही वहाँ पहुँच सकता है जो प्रस्तुत मन्त्र के शब्दों में प्रभु की प्रेरणा को सुनकर 'वामदेव' बनता है—सारे दिव्य गुणों को अपनानेवाला बनता है। २. प्रभु इससे कहते हैं कि **पाजः**=बल को **कृणुष्व**=सम्पादित कर, शक्तिशाली बन। शक्ति ही तुझे **वामदेव बनाएगी**। ३. शक्ति के सम्पादन के लिए ही **पृथ्वीम्**=इस

पृथिवी को, इन पार्थिव भोगों को **प्रसितिं न**=बन्धन की भाँति **याहि**=प्राप्त हो। इन पार्थिव भोगों को तू बन्धन समझनेवाला हो। शरीर के लिए ये कुछ मात्रा में आवश्यक हो जाते हैं, परन्तु तूने इन्हें बन्धन समझते हुए इनमें फँसना नहीं। भूख को तू रोग समझकर उसके लिए भोजन को औषधवत् ही ग्रहण करना। ४. **राजा इव**=तू अपने इस जीवन में राजा की भाँति बन। तूने इन्द्रियों का ग़ुलाम नहीं बनना। ५. **अमवान्**=इन्द्रियों का गुलाम न बनने के कारण तू 'अम' वाला हो (अम=strength, power; vital air), बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न हो। ६. **इभेन**=(इभ=fearless power) अपनी निर्भीक शक्ति के द्वारा **तृष्वीम्**=शीघ्र ही **प्रसितिम्**=बन्धन को **अनुद्रूणानः**=तू क्रमशः विनष्ट करनेवाला हो। एक-एक करके तू सब शत्रुओं को नष्ट कर डाल। ७. तू सचमुच **अस्ता असि**=शत्रुओं को सुदूर फेंकनेवाला है। ८. **तपिष्ठैः**=अत्यन्त सन्तापक अस्त्रों से व प्राणायामादि परम तपों से **रक्षसः**=इन शत्रुओं को व राक्षसी वृत्तियों को **विध्य**=बींध डाल—राक्षसी वृत्तियों को तू समाप्त कर डाल।

भावार्थ—शक्तिशाली बन। सांसारिक भोगों को बन्धन समझ। जितेन्द्रिय बनकर बन्धनों को नष्ट कर डाल।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

क्रियाशील जीवन

तव भ्रमास॑ऽआशु॒या प॑त॒न्त्यनु॑ स्पृश धृष॒ता शोशु॑चानः।
तपू॑ꣳष्यग्ने जु॒ह्वा॒ पत॒ङ्गान॑स॒न्दितो॒ वि सृ॑ज॒ विष्व॑गु॒ल्काः॥१०॥

१. प्रभु वामदेव से ही कह रहे हैं कि **तव**=तेरे **आशुया**=शीघ्र गतिवाले **भ्रमासः**=पादविक्षेप, अर्थात् कार्यक्रम तुझे **पतन्ति**=प्राप्त होते जाते हैं। एक के बाद दूसरा कार्य तेरे जीवन में आता चलता है। तू किसी भी समय अकर्मण्य नहीं होता। २. इस प्रकार निरन्तर क्रियाशीलता से **शोशुचानः**=अपने को निरन्तर दीप्त व पवित्र करता हुआ तू **धृषता**=अपनी धर्षण-शक्ति से **अनुस्पृश**=एक-एक शत्रु को (अभिमृश—उ०) मसल डाल। काम-क्रोधादि सब शत्रुओं को तू कुचल डाल। ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **जुह्वा**=(हु दान-अदन) दानपूर्वक अदन—देकर खाने की प्रक्रिया से **तपूंषि**=काम-क्रोधादि सन्तापक शत्रुओं को **पतङ्गान्**=(पतन्तः सन्तो गच्छन्ति इति पिशाचाः—म०) निरन्तर आक्रमण करते हुए चलते हैं—ऐसे इन राक्षसी भावों से **असन्दितः**=बद्ध न होता हुआ **विसृज**=परे फेंक दे। इस प्रकार परे फेंक दे जैसे आकाश में **विष्वक्**=चारों ओर **उल्काः**=उल्काओं को फेंक दिया गया है। ये काम-क्रोधादि की वृत्तियाँ उल्काओं के समान हैं। इन्हें तू अपने से दूर फेंक दे। ये तेरी क्रियाशीलता से क्षीणशक्ति होकर भाग खड़ी हों।

भावार्थ—१. हम क्रियाशील हों। २. क्रियाशीलता से हममें वह धर्षण-शक्ति उत्पन्न हो जो सब शत्रुओं को कुचल डालती है। ३. हम दानपूर्वक अदन से सन्तापक व बारम्बार आक्रमण करनेवाले राक्षसी भावों को उल्काओं के तुल्य दूर विनष्ट कर दें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रजा-रक्षण, शत्रु-संहार

प्रति॒ स्पशो॒ वि सृ॑ज॒ तूर्णि॑तमो॒ भवा॑ पा॒युर्वि॒शोऽअ॒स्या अद॑ब्धः।
यो नो॑ दू॒रेऽअ॒घश॑ꣳसो॒ योऽअन्त्यग्ने॒ माकि॑ष्टे व्यथि॒राद॑धर्षीत्॥११॥

१. जैसे वामदेव ने अध्यात्मक्षेत्र में कामादि शत्रुओं का संहार करना है, उसी प्रकार राजा ने आधिभौतिक क्षेत्र में राष्ट्र के शत्रुओं का संहार करना है। उसके लिए कहते हैं कि **स्पशः**=गुप्तचरों को **प्रतिविसृज**=प्रत्येक दिशा में भेज। प्रजा के गुण-दोषों के परिज्ञान के लिए ये गुप्तचर ही राजा की आँख होते हैं। २. **तूर्णितमः भव**=तू अपने कार्यों को त्वरा से करनेवाला हो। आलस्य कार्य-सफलता में महान् विघ्न है। ३. तू **अदब्धः**=स्वयं किन्हीं वासनाओं व आलस्यादि शत्रुओं से हिंसित न होता हुआ **अस्याः विशः**=इस प्रजा का **पायुः**=रक्षक हो। ४. **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला **नः**=हमारा **यः**=जो शत्रु **दूरे**=दूरी पर स्थित है **यः अन्ति**=जो समीप है, **अग्ने**=हे राष्ट्रोन्नति के साधक राजन्! वह **व्यथिः**=पीड़ित करनेवाला शत्रु **ते**=तेरा **माकिः आदधर्षीत्**=धर्षण न करे। राजा किसी भी शत्रु से पराजित न होता हुआ प्रजा की रक्षा करनेवाला हो। राजा से सम्यक्तया रक्षित प्रजा में ही सद्गुणों का विकास सम्भव है।

भावार्थ—राजा स्वयं आलस्यादि शत्रुओं से मुक्त होता हुआ प्रजा की शत्रुओं से रक्षा करे, जिससे सुरक्षित प्रजाएँ उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाली बनें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

शत्रु-दहन

उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ२॥ऽओषतात्तिग्महेते।
यो नोऽअरातिꣳसमिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्॥१२॥

१. पिछले मन्त्र के ही विषय को इस रूप में कहते हैं कि **अग्ने उत् तिष्ठ**=हे राजन्! तू ऊपर उठ। आलस्य को छोड़कर प्रजा-रक्षण के कार्य के लिए उद्यत हो जा। अथवा हे राजन्! तू विषयों से ऊपर उठ। अपने महान् उत्तरदायित्व को समझ। २. **प्रति आतनुष्व**=एक-एक शत्रु के प्रति अपने शस्त्र को विस्तृत कर। ३. हे **तिग्महेते**=तीव्र अस्त्रोंवाले राजन्! तू **अमित्रान्**=शत्रुओं को **नि ओषतात्**=निश्चय से जलानेवाला हो। तेरे शस्त्रों की अग्नि में शत्रु दग्ध हो जाए। ४. हे **समिधान**=शक्ति से दीप्यमान राजन्! **यः**=जो भी **नः**=हमारे साथ **अरातिम्**=शत्रुता **चक्रे**=करता है, अर्थात् जो भी हमारा शत्रु है **तम्**=उसे **नीचा धक्षि** =(burn to the ground) भस्म करके भूमिगत कर दीजिए, जलाकर मिट्टी में मिला दीजिए। **न**=जिस प्रकार **शुष्कं अतसम्**=(a garment made of the fibre of flax) सूखे सन के बने कपड़े को जला देते हैं।

भावार्थ—राजा प्रजा के शत्रुओं का दहन करता हुआ प्रजा को उन्नति का सु-अवसर प्राप्त कराए।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

वेधन-मारण

ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने।
अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्रमृणीहि शत्रून्।
अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामि॥१३॥

१. गत मन्त्र की भावना को ही पुनः दुहराते हैं कि **अग्ने ऊर्ध्वः भव**=हे राजन्! तू आलस्य को छोड़कर उठ खड़ा हो। तुझे सदा 'जागृवि' बनना है—जागना है। २. **प्रतिविध्य**=

तू एक-एक शत्रु को बींध डाल। शत्रुओं को विद्ध करना ही तेरा मौलिक कर्त्तव्य है। ३. **अध्यस्मत्**=हमारे उद्देश्य से, हमारे कल्याण के लिए **दैव्यानि**=दिव्य कर्मों को **आविष्कृणुष्व**=प्रकट कर। तू इस प्रकार अद्भुत कर्मों को करनेवाला बन कि हमारा कल्याण-ही-कल्याण सिद्ध हो। ४. **यातुजूनाम्**=पीड़ा के लिए ही जिनकी गति है (यातु+जु), अर्थात् जिनके कर्म औरों को पीड़ित करने के लिए ही होते हैं, उन यातुधानों=राक्षसों के **स्थिरा**=दृढ़ धनुषादि अस्त्रों को भी **अवतनुहि**=ढीला कर दे। ५. **जामिम् अजामिम्**=रिश्तेदार हो, ग़ैर रिश्तेदार हो सभी **शत्रून्**=शत्रुओं को **प्रमृणीहि**=कुचल डाल। जो भी राष्ट्र का शत्रु है उसे समाप्त करना ही है। ६. **त्वा**=तुझे **अग्नेः**=अग्नि के **तेजसा**= तेज के साथ **सादयामि**=इस सिंहासन पर बिठाता हूँ। जैसे अग्नि सब मलों को भस्म कर देती है, उसी प्रकार राजा को भी राष्ट्र के सब शत्रुओं को भस्म करना है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र के सब शत्रुओं का विध्वंस करके राष्ट्र का उत्थान करनेवाला बने। दण्ड-व्यवस्था में सम्बन्ध का विचार न करके न्याय-मार्ग से ही दण्ड देना चाहिए।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शिखर पर

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्।
अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति। इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि ॥१४॥

१. पिछले मन्त्रों के अनुसार राष्ट्र-व्यवस्था के उत्तम होने पर प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह अपने अन्दर दिव्य गुणों को उपजाने के लिए यत्नशील हो। वह कैसा बने? इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अग्निः**=यह अग्रेणी हो, निरन्तर उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाला हो। २. यह उन्नति करते-करते **मूर्धा**=शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करे। 'आरोहणमाक्रमणम्' ऊपर चढ़ना, ऊपर उठना ही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। ३. **दिवः ककुत्**=ज्ञान से यह महान् बनता है (ककुत्=महान्)। ज्ञान को प्राप्त करते हुए यह ऊँचा और ऊँचा उठता चलता है। ४. ज्ञान-प्राप्ति के साथ **अयम्**=यह **पृथिव्याः**=शरीर का **पतिः**=रक्षक बनता है। शरीर के स्वास्थ्य का भी यह पूरा ध्यान रखता है। वस्तुतः सब उन्नतियों का आधार यह शारीरिक स्वास्थ्य ही है। ५. शरीर का पति यह क्यों न बने? यह तो **अपां रेतांसि**=जल-सम्बन्धी रेतस् का **जिन्वति**=(पुष्णाति—म०) पोषण करता है। 'आपो रेतो भूत्वा'=जल शरीर में रेतस् के रूप में रहते हैं। यह वामदेव इन रेतःकणों का पोषण करता है, उन्हें विनष्ट नहीं होने देता। ६. इस रेतस् का पोषण करनेवाले वामदेव से प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **इन्द्रस्य ओजसा**=इन्द्र के ओज से **सादयामि**=इस शरीर में स्थापित करता हूँ। इन रेतःकणों की रक्षा से इन्द्रशक्ति का विकास होता है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ें, शिखर तक पहुँचें, ज्ञान से महान् बनें, शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा करें और इस प्रकार इन्द्रशक्ति के विकास के लिए रेतःकणों का अपने में पोषण करें।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

तीनों दृष्टिकोणों से शिखर पर=त्रिशिराः

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
दिवि मूर्द्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥१५॥

१. गत मन्त्र में शिखर पर पहुँचने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी का विस्तार से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (क) यह स्वस्थ शरीर में उत्तम रचनात्मक कर्मों का करनेवाला होता है, (ख) मस्तिष्क को ज्ञान-प्रकाश में स्थापित करता है, (ग) वाणी से प्रभु के नाम का भजन करता है और इस प्रकार 'त्रिशिराः' त्रिविध उन्नति करनेवाला होता है। २. प्रभु कहते हैं कि हे त्रिशिरः! तू **भुवः**=इस पार्थिव शरीर से **यज्ञस्य**=लोकहित के लिए किये जानेवाले कर्मों का, और उन कर्मों के द्वारा **रजसः**=लोकरञ्जन का, लोकों के प्रसादन का **नेता**=प्राप्त करानेवाला होता है। संक्षेप में कहें तो यह कि तू शरीर को स्वस्थ बनाता है, उस स्वस्थ शरीर से तू यज्ञों को करता है और यज्ञों से लोकों के आनन्द को सिद्ध करनेवाला होता है। ३. यह वह मार्ग है **यत्र**=जिसमें तू **शिवाभिः**=कल्याणकर, मङ्गलमय **नियुद्भिः**=इन्द्रियरूप घोड़ों से **सचसे**=युक्त होता है, अर्थात् यज्ञों में प्रवृत्ति तेरी इन्द्रियों को बड़ा सुन्दर बनाये रखती है। ४. इस मार्ग पर चलता हुआ तू **मूर्धानम्**=अपने मस्तिष्क को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **दधिषे**=धारण करता है। तू अपने मस्तिष्क को ज्ञान-दीप्ति से अधिक-से-अधिक उज्ज्वल बनाता है। ५. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **स्वर्षाम्**=(स्वः समोति भजति) उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को, प्रभु के नाम को भजनेवाली **जिह्वाम्**=जिह्वा को **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों का ही वहन करनेवाली **चकृषे**=बनाता है, अर्थात् यज्ञिय सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करता है। ६. एवं, त्रिशिरा के जीवन में (क) उसका स्वस्थ शरीर तथा स्वस्थ शरीर-रथ में जुती हुई कल्याणमयी इन्द्रियरूपी घोड़ियाँ सदा यज्ञ द्वारा, लोकहितकारी कार्यों के द्वारा, लोकरञ्जन में लगी रहती हैं। (ख) उसका मस्तिष्क सदा ज्ञान में अवस्थित होता है। (ग) उसकी जिह्वा पर प्रभु का नाम होता है और उसकी जिह्वा सात्त्विक भोजनों का ही स्वाद लेती है। एवं, त्रिशिरा का नाम पूर्णतया अन्वर्थक ही होता है।

भावार्थ—हमारे हाथ यज्ञात्मक कर्मों में लगे हों, मस्तिष्क ज्ञान में, तथा जिह्वा प्रभु-नामोच्चारण में और सात्त्विक अन्न के सेवन में।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पत्नी भी त्रिशिराः हो, समुद्र व सुपर्ण

ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा।
मा त्वा समुद्रऽउद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीं दृꣳह ॥१६॥

१. स्त्री भी खूब उन्नत जीवनवाली हो। कैसी? **ध्रुवा असि**=तू घर में ध्रुव होकर रहनेवाली है। छोटी-छोटी बातों से रूठकर पितृगृह की ओर जानेवाली नहीं। साथ ही अपने जीवन की मर्यादाओं में स्थिरता से रहनेवाली है। २. **धरुणा**=घर में रहती हुई सबका धारण करनेवाली है। अन्न-वस्त्र आदि सब धारणात्मक वस्तुओं का पूर्णतया ध्यान करनेवाली है। ३. **विश्वकर्मणा**=गृह-सम्बन्धी सब कार्यों से तू **आस्तृता**=आच्छादित है, अर्थात् तू सदा घर के कार्यों में लगी रहती है, इसीलिए तो तेरे समीप पाप नहीं आ पाता, क्योंकि इसका मन तो घर के कार्यों में लगा है। ४. इस प्रकार कर्मों में लगा होने के कारण इसका जीवन वासनामय नहीं बनता, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **समुद्रः**=(स मुद्) सदा मौज की मनोवृत्ति में रहनेवाला, मज़े उड़ानेवाला, जिसके दृष्टिकोण में संसार केवल मौज के लिए बना है, ऐसा जार (छैला) पुरुष **त्वा**=तुझे **मा**=मत **उद्वधीत्**=धर्म-मार्ग से बाहर करनेवाला हो

हो (उत्=out, हन्=गति)। **सुपर्णः**=जैसे एक सुन्दर पंखोंवाला पक्षी होता है, इसी प्रकार चमक-दमकवाले कपड़े पहनकर घूमनेवाला व्यक्ति **मा**=मत विचलित करनेवाला हो। तू इन समुद्रों और सुपर्णों=बांके-छैलछबीले व्यक्तियों के पाश में फँसनेवाली न हो। ५. **अव्यथमाना**=भय से विचलित न होती हुई तू **पृथिवीं दृंह**=अपने शरीर को दृढ़ बना। तेरे दृढ़ शरीर के साथ वे खिलवाड़ न कर सकेंगे।

भावार्थ—पत्नी ध्रुव हो, धरुण हो, कर्मों में लगी हो, बांके-छैले युवकों का शिकार न हो जाए। अविचलित होती हुई अपने शरीर को दृढ़ बनाये।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पृथिवी व शं-विस्तारिणी

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि॥१७॥

१. पत्नी के लिए ही कहते हैं कि **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का पति प्रभु **त्वा**=तुझे **अपां पृष्ठे**=कर्मों के पृष्ठ पर, अर्थात् कर्मों पर **सादयतु**=बिठाये, अर्थात् तेरा जीवन सदा कर्मों में व्यापृत रहे। २. **समुद्रस्य**=तू आनन्दमय प्रभु के **एमन्**=प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त हो। अर्थात् तेरा लक्ष्य उस प्रभु को प्राप्त करना है। ३. **व्यचस्वती**=(व्यचस्=विस्तार) ज्ञान के विस्तारवाली तथा **प्रथस्वती**=हृदय के विस्तारवाली सन्तति को **प्रथस्व**=तू विस्तृत करनेवाली हो, अर्थात् सदा क्रियाशीलता के द्वारा प्रभु की ओर चलती हुई तू उस सन्तान को जन्म दे जो अधिक-से-अधिक विस्तृत ज्ञानवाली हो और जिसका हृदय विशाल हो। ४. ऐसी सन्तति को जन्म देनेवाली ही तू **पृथिवी**=पृथिवी **असि**=है। जैसे यह पृथिवी उत्तमोत्तम ओषधियों को जन्म देती है, इसी प्रकार तू उत्तम सन्ततियों को जन्म देती हुई वंश का विस्तार करनेवाली है। (पृथिवी=प्रथ विस्तारे)।

भावार्थ—पत्नी क्रियाशील हो, प्रभु के मार्ग पर चले। ज्ञानी, विशाल हृदय सन्तति को जन्म दे। वंश का विस्तार करनेवाली हो।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—प्रस्तारपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

विश्वधाया

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः॥१८॥

१. पत्नी के लिए ही कहते हैं कि **भूः असि**=(भवन्ति यस्याम्) तुझसे ही सन्तानों का जन्म होता है। २. **भूमिः असि**=(भवन्ति यस्याम्) उत्पन्न होकर सन्तान तेरे ही आधार से रहते हैं। ३. **अदितिः असि**=(अविद्यमानादितिः खण्डनं यया) तेरे कारण ही सन्तान अखण्डित स्वास्थ्य व चारित्र्यवाली बनती है। ४. **तू विश्वधायाः**=सब सन्तानों को उत्तम दूध पिलानेवाली है और इस प्रकार सबका पालन करनेवाली है। ५. **विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री**=सन्तान के निर्माण व पालन के द्वारा तू सारे लोक का धारण करनेवाली है। जिस भी राष्ट्र में माताएँ अपने सन्तानों को अदीन व दिव्य गुणोंवाला तथा स्वस्थ शरीरवाला बनाती हैं, वह राष्ट्र सदा उन्नत होता है। ६. एक देवमाता=दिव्य सन्तान का निर्माण करनेवाली माता को चाहिए कि वह **पृथिवीं यच्छ**=(पृथिवी शरीरम्) अपने शरीर का नियमन करे। **पृथिवीं**

दृंह=इस शरीर को दृढ़ बनाये और **पृथिवीम्**=शरीर को **मा हिंसीः**=हिंसित न होने दे। नियमित जीवन से शरीर दृढ़ होगा और असमय में समाप्त न हो जाएगा। वस्तुतः यह 'नियमन, दृढ़ीकरण व अहिंसन' ही 'त्रिशिरा ' बनना है, त्रिविध उन्नति करना है।

भावार्थ—एक माता 'अदिति' बनकर दिव्य सन्तानों को जन्म दे। इस प्रकार वह राष्ट्र का धारण कर सकती है। उसे अपने शरीर को व्यवस्थित, दृढ़ व स्वस्थ बनाना है। अव्यवस्थित, ढीली-ढाली व अस्वस्थ माता तो ऐसी ही सन्तानों को जन्म देगी जो राष्ट्र के लिए बोझ ही होंगे।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

मही स्वस्ति-शन्तम छर्दि (उत्तम योगक्षेम, शान्त घर)

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। अग्निष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥१९॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में पति को अग्नि कहा है। उसका कर्त्तव्य है कि वह पत्नी की रक्षा करे। **अग्निः**=घर की उन्नति को सिद्ध करनेवाला तथा अग्नि के समान ज्ञान के प्रकाशवाला पति **त्वा**=तुझे **अभिपातु**=पालित करे, तुझे आन्तर व बाह्य आपत्तियों से बचाए। २. **मह्या स्वस्त्या**=(महत्या योगक्षेमसंपत्त्या) महती योगक्षेम सम्पत्ति के द्वारा वह तेरा रक्षण करे और **शन्तमेन छर्दिषा**=(अत्यन्तं सुखकारिणा गृहेण—म०) सब प्रकार से शान्ति देनेवाले घर से पति तेरी रक्षा करे। घर में किसी प्रकार के खान-पान की कमी न हो और घर सब ऋतुओं में सुखद हो। ३. इस घर में **तया देवतया**=उस देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाले व्यक्ति के समान, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ व प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रहनेवाली हो। तेरा जीवन बड़ा मर्यादावाला हो। ४. ऐसा होने पर ही तू **विश्वस्मै प्राणाय**=सब प्राणशक्ति के लिए अथवा सब गृहसभ्यों की प्राणशक्ति के लिए होगी। **अपानाय**=अपान शक्ति के लिए होगी। प्राणशक्ति बल देनेवाली है तो अपान दोषों को दूर करनेवाली है। ५. तू **व्यानाय**=व्यानशक्ति के लिए होगी। व्यान शक्ति शरीर में सर्वत्र भ्रमण करके शरीर की व्यवस्था को ठीक रखनेवाली है। **उदानाय**=तू उदान के लिए होगी। यह उदान कण्ठदेश में रहकर कण्ठग्रन्थि को ठीक रखती हुई दीर्घ-जीवन का कारण बनती है। ६. **प्रतिष्ठायै**=तू घर की प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए होगी। घर की नींव को दृढ़ करनेवाली होगी तथा **चरित्राय**=घर में आचरण के मापक को तू सदा ऊँचा रक्खेगी।

भावार्थ—पति का मुख्य कार्य यह है कि वह उत्तम घर तथा महनीय योगक्षेम (खान-पान की सामग्री) को प्राप्त कराने के लिए यत्नशील हो। पत्नी इस बात का ध्यान रक्खे कि गृहसभ्यों की प्राण, अपान, व्यान व उदान शक्तियाँ ठीक बनी रहें। घर की प्रतिष्ठा बढ़े तथा सदाचार का मापक ऊँचा बना रहे।

ऋषिः—अग्निः। **देवता**—पत्नी। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

दूर्वा

काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती परुषःपरुष्परि।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च ॥२०॥

१. पिछले मन्त्र में पति को 'अग्नि' कहा है। इस मन्त्र में यह अग्नि पत्नी को 'दूर्वा' नाम से सम्बोधित करके कहता है कि वह उसके वंश को सैकड़ों व हज़ारों पीढ़ियों तक ले-जाने में सहायक हो, अतः मन्त्र का ऋषि 'अग्नि' ही है, जो वंश को आगे और आगे ले-चलना चाहता है, जो यह नहीं चाहता कि उसका वंश-दीप कभी बुझ जाए। **'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**='प्रजाओं से मैं अमर बना रहूँ' यह उसकी कामना है। इसी कारण वह चाहता है कि उसके वंश में कोई रोग या अन्य कोई मानस विकार उत्पन्न न हो और उसका वंश चलता ही चले, इसीलिए वह पत्नी को 'दूर्वा' नाम से स्मरण करता है-'इति यदब्रवीद् धूर्वीन् मा इति तस्मात् धूर्वा। धूर्वा ह वै तां दूर्वा इत्याचक्षते परोक्षम्'-श० ७।४।२।१२। यह मुझे हिंसित मत करे (धूर्वी हिंसायाम्), अतः वह इसका नाम ही धूर्वा वा दूर्वा कह देता है। २. जैसे दूर्वा घास के काण्ड=तने हैं, उसी प्रकार यहाँ पत्नी के नर-सन्तान हैं, जिनसे घर 'कन दीप्तौ' चमकता है। इस दूर्वा के परु=पर्व, जोड़ हैं, उसी प्रकार पत्नी के स्त्री सन्तान लड़कियाँ हैं। इनसे अन्य घरों के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। दूर्वा घास प्रत्येक काण्ड पर अपने मूल जमाती हुई और प्रत्येक पोरु पर से अपनी जड़ पकड़ती हुई फैलती है, उसी प्रकार इस पत्नी के पुत्र अपने अगले सन्तानों को जन्म देनेवाले हों और पुत्रियाँ भी इस घर के सम्बन्ध को विस्तृत करनेवाली हों। ३. पति कहता है कि **काण्डात् काण्डात्**=वंश-वृक्ष के तनेरूप प्रत्येक तनय=पुत्र के द्वारा **प्ररोहन्ती**=इस वंश को आगे बढ़ाती हुई तथा **परुषः परुषः परि**=वंश-वृक्ष के प्रत्येक पर्व=जोड़ के समान पुत्रियों से सम्बन्ध को चारों ओर फैलाती हुई हे **दूर्वे**=सब रोगों व अशुभवृत्तियों का ध्वंस करनेवाली पत्नि! तू **एव**=इस प्रकार **नः**=हमें **प्रतनु**=विस्तृत कर। ४. **सहस्रेण**=हम हज़ारों पीढ़ियों से इस संसार में चलते चलें। **शतेन च**=और इस वंश में प्रत्येक व्यक्ति शतवर्ष के जीवनवाला हो।

भावार्थ-वंश के निर्दोष होने पर वंश हज़ारों पीढ़ियों तक चलता है तथा वंश में प्रायः शतायु पुरुष होते हैं। इसका बहुत-कुछ निर्भर पत्नी पर है जो 'दूर्वा' है, वंश के रोगों व बुराइयों का ध्वंस कर देती है।

ऋषिः-अग्निः। **देवता**-पत्नी। **छन्दः**-निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**-गान्धारः॥

इष्टका

या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि।
तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्॥२१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी को 'इष्टका' कहा है (यज्+क्त+इष्ट=यज्ञ) यज्ञों को करनेवाली। व्याकरण के अनुसार पत्नी शब्द की सिद्धि ही 'यज्ञसंयोग' में होती है 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'। वस्तुतः गृहस्थ में व्यक्ति ने यज्ञ के लिए प्रवेश किया है। यज्ञों में प्रवृत्त रहने के कारण इसका जीवन दिव्य बना रहता है, अतः इसे 'देवी' कहा गया है। पति धनार्जन करके उसे पत्नी के हाथ में दे। पत्नी इस धन को यज्ञों में विनियुक्त करती हुई यज्ञशेष से, अमृत से परिवार का पोषण करने के लिए प्रयत्न करे। पति जो देकर खाता है वही 'हवि' है, दानपूर्वक अदन। इसी प्रकार पति पत्नी का समुचित आदर करनेवाला होता है। ३. पति कहता है कि हे **देवि**=दिव्य गुणोंवाली! **इष्टके**=यज्ञ के स्वभाववाली पत्नि! **या**=जो तू **शतेन प्रतनोषि**=हमारी आयुओं को सौ वर्ष के परिमाण में फैलानेवाली होती है और

सहस्त्रेण विरोहसि=हमारे वंश को हज़ारों पीढ़ियों तक बढ़ानेवाली होती है **तस्याः ते**=उस तुझे **वयम्**=हम **हविषा**=सब सौंपकर तेरे द्वारा दिये हुए को खाने से **विधेम**=आदर करते हैं। पत्नी का सच्चा आदर यही है कि उसे ही गृह की 'साम्राज्ञी' समझा जाए। घर का सारा प्रबन्ध उसी के अधीन हो। वही व्यवस्थापिका हो। ३. इस व्यवस्था के होने पर घरों से यज्ञों का विलोप नहीं होता, परिणामतः उत्तमता का भी विलोप नहीं होता।

भावार्थ—पत्नी घर में यज्ञों की प्रवर्तिका, इष्टका है। यज्ञों द्वारा घर में दिव्य गुणों के व्यवस्थापन से यह देवी है। हम अपना सब धन इन्हें सौंपकर उनसे दिये गये को खाकर ही इनका समुचित आदर करते हैं। वे हमारे दीर्घ-जीवन का कारण बनती हैं और वंश को विच्छिन्न नहीं होने देतीं।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सूर्य व अग्नि (स्वर्ग)

यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।
ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि॥२२॥

१. २२ से २५ तक मन्त्रों का ऋषि 'इन्द्राग्नी' है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पति ही यहाँ इन्द्र है। इसने निरन्तर कर्म द्वारा, गति द्वारा, गृह-सञ्चालन के लिए धनार्जन करना है। निरन्तर गति के कारण इसे 'सूर्य' (सरति) कहा गया है। पत्नी यहाँ अग्नि है। घर की सब उन्नति का निर्भर इसी पर है। १९वें मन्त्र में इसी दृष्टिकोण से पति को भी अग्नि कहा गया था। यहाँ पति 'इन्द्र व सूर्य' है, पत्नी 'अग्नि'। २. पत्नी से कहते हैं कि हे **अग्ने**=गृहोन्नति साधिके! **याः**=जो **ते**=तेरी **सूर्ये**=निरन्तर श्रमशील पति में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं अथवा रुचियाँ या प्रीतियाँ हैं (तेरी रुचियाँ हैं—द०) वे प्रीतियाँ **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से (रश्मि=किरण) तथा इन्द्रियों के नियन्त्रणों से (रश्मि=लगाम) **दिवम्**=स्वर्ग को **आतन्वन्ति**=विस्तृत करती हैं। स्पष्ट है कि घर स्वर्ग बन जाता है जब (क) पत्नी का सब प्रेम अपने पति के लिए ही हो। (ख) पति निरन्तर श्रम के द्वारा गृह-सञ्चालन के लिए पर्याप्त धनार्जन करनेवाला हो। (ग) घर में ज्ञान का प्रकाश हो, सब ज्ञान-सम्पन्न हों। (घ) और सबने इन्द्रियाश्वों को मनरूप लगाम से काबू किया हुआ हो। ३. पति-पत्नी की परस्पर प्रीतियों का परिणाम घर में कल्याण-ही-कल्याण होता है। आचार्य दयानन्द प्रस्तुत मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं—'यत्र स्त्रीपुरुषौ परस्परं प्रीतिमन्तौ स्यातां तत्र सर्वं कल्याणमेव'=पति-पत्नी के प्रीतिमान होने पर सब शुभ-ही-शुभ होता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब प्रीतियों से **नः**=हमें (अस्मान्) **रुचे**=शोभा के लिए **कृधि**=कीजिए। इन परस्पर प्रीतियों से सन्तानों के सब लक्षण शुभ-ही-शुभ होते हैं। उस प्रीति को **नः**=हमारी **जनाय**=शक्तियों के विकास के लिए कीजिए, अर्थात् माता-पिता का परस्पर ठीक प्रेम होने पर सन्तानों की शक्तियों का विकास होता है। एवं, पति-पत्नी की परस्पर प्रीति के दो परिणाम सन्तानों में दृष्टिगोचर होते हैं। (क) शुभ लक्षण व दीप्ति (रुच)। (ख) शक्तियों का विकास (जन)।

भावार्थ—पति-पत्नी का कर्त्तव्य है कि अपने जीवनों को 'सूर्य व अग्नि' की भाँति बनाकर घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

माता-पिता व आचार्य

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः।
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते॥२३॥

१. मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' इस वाक्य के अनुसार उत्तम सन्तानों का निर्माण माता-पिता व आचार्य पर निर्भर करता है। ये तीनों देव हैं 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' इस उपनिषद् वाक्य में तीनों को देव कहा गया है। इनका मस्तिष्क ज्ञान के सूर्य से चमकता होगा और इनकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ अपनी-अपनी शक्तियों से चमकती होंगी तो सन्तानें भी उत्तम होंगी। २. मन्त्र के शब्दों में कहते हैं कि हे **देवाः**=माता-पिता व आचार्यो! **याः**=जो **वः**=आपकी **सूर्ये**=मस्तिष्करूप गगन में उदित ज्ञानसूर्य में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में, **अश्वेषु**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों में **याः**=जो **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्रतुल्य अथवा जितेन्द्रिय पितः तथा अग्नितुल्य मातः! तथा **बृहस्पते**=वेदज्ञान के पति आचार्य! **ताभिः सर्वाभीः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हम सन्तानों में भी **रुचम्**=दीप्ति को **धत्त**=धारण करो। हमारे जीवनों को भी दीप्तिमय बनाओ। ३. माता-पिता व आचार्य ने ही तो सन्तानों का निर्माण करना है। माता चरित्र देती है, पिता शिष्टाचार तथा आचार्य ज्ञान।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य जब उत्तम मस्तिष्क, ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाले होते हैं तब वे सन्तानों के जीवनों को भी ज्योतिर्मय बना पाते हैं।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृद्धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

विराट् (स्वराट्) + ज्योतिष्मती

विराड् ज्योतिरधारयत् स्वराड् ज्योतिरधारयत्।
प्रजापतिष्ट्वा सादयतु पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम्।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ।
अग्निष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥२४॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'सन्तानों में ज्योति के धारण पर' हुई थी। इस ज्योति को वही पति (पिता) धारण करा सकता है जो स्वयं ज्योतिर्मय व जितेन्द्रिय हो। मन्त्र में कहते हैं कि **विराट्**=विविध ज्ञानों की ज्योतियों से चमकनेवाला पिता ही **ज्योतिः**=प्रकाश को **अधारयत्**=सन्तान में धारण करता है, अतः पिता के लिए खूब ज्ञान की दीप्तिवाला होना आवश्यक है। २. **स्वराट्**=अपना राज्य व शासन करनेवाला जितेन्द्रिय पिता ही **ज्योतिः अधारयत्**=सन्तान में ज्योति को धारण करता है। एवं, पिता के लिए 'विराट् तथा स्वराट्' होना अत्यन्त आवश्यक है। ३. अब माता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक वह प्रभु **त्वा**=तुझ **ज्योतिष्मतीम्**=ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान को **पृथिव्याः पृष्ठे**=(पृथिवी शरीरम्) शरीर के ऊपर **सादयतु**=स्थापित करे, अर्थात् तू इस शरीर को पूर्णतया अपने वश में किये हुए हो। एवं, माता ने भी ज्ञान की ज्योति से दीप्त व अपने पर आधिपत्यवाला होना है। ३. **विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय**=सब प्राण, अपान व व्यान-शक्ति के लिए माता का भी ज्योतिर्मयी व जितेन्द्रिय होना अत्यन्त आवश्यक

है। माता का ही बच्चे पर अत्यधिक प्रभाव होता है। 'माँ पर पूत' यह लोकोक्ति ठीक ही है। माता से ही बच्चे को प्राण, अपान व व्यानशक्ति प्राप्त होती है। ४. माता से कहते हैं कि **विश्वं ज्योतिः यच्छ** =(निगृहणीष्व) सम्पूर्ण ज्योति को अपने में धारण करनेवाली बन। तू स्वयं ज्योति धारण करेगी, तभी तो सन्तानों को यह ज्योति दे पाएगी। ५. **ते अधिपतिः**=तुझसे अधिक गुणवाला तेरा पति **अग्निः**=इस घर की उन्नति करनेवाला हो। वह ज्ञान की ज्योति को धारण करनेवाला 'देव' हो (देवो दीपनाद्)। **तया देवतया**=उस देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाले व्यक्ति की भाँति तू **ध्रुवा**=ध्रुव होकर, बड़े मर्यादित जीवनवाली होकर **सीद**=निवास कर। ६. वस्तुतः पति-पत्नी (माता-पिता) के जीवन के अनुपात में ही सन्तानों का भी जीवन बनता है, अतः ये अपने उत्तरदायित्व को समझें और अपने जीवनों को वेद के शब्दों में निम्न प्रकार से बनाने का यत्न करें—

पिता—१. **विराट्**=विविध ज्ञानों की दीप्तियों से दीप्त २. **स्वराट्**=अपने पर शासन करनेवाला ३. **अग्निः**=सदा घर को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला ४. **देवता**=दिव्य गुणों को अपनानेवाला।

माता—१. **ज्योतिष्मती**=ज्ञान के प्रकाशवाली, समझदार २. **पृष्ठे पृथिव्याः सादयतु**=शरीर पर पूर्ण प्रभुत्ववाली ३. **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाली ४. **ध्रुवा**=स्थिरता से रहनेवाली, मर्यादित जीवनवाली।

भावार्थ—विराट् पिता और ज्योतिष्मती माता ही सन्तानों में ज्योति का धारण कर सकते हैं।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। **देवता**—ऋतवः। **छन्दः**—भुरिगतिजगती [क], भुरिग्ब्राह्मीबृहती [ख]। **स्वरः**—निषादः [क], मध्यमः [ख]॥

मधु+माधव

[क]मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। [ख]येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। वासन्तिकावृतूऽअभिकल्प-मानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥२५॥

१. 'इन्द्राग्नी' ऋषि का यह अन्तिम मन्त्र है। पत्नी ने अत्यन्त मधुर स्वभाववाला बनना है, अतः उसे यहाँ 'मधुः' कहा गया है। पति ने सदा गृहस्थ सञ्चालन के लिए धनार्जन करनेवाला होना है, अतः उसे 'मा-धव'=लक्ष्मी का पति कहा गया है। जिस समय ये पति-पत्नी **'मधुः च माधवः च'**=मधुर स्वभाव और लक्ष्मीपति बनते हैं, उस समय ये **वासन्तिकौ**=एक-दूसरे के समीप उत्तमता से निवास करनेवाले होते हैं। इनका परस्पर प्रेम ठीक बना रहता है। २. **ऋतू**=(ऋ गतौ) ये दोनों अपने कार्यों को बड़े नियम से करनेवाले होते हैं। ऋतुओं की भाँति इनके कार्य समय पर होते हैं। ३. पति के लिए कहते हैं कि तू **अग्नेः**=उस अग्रेणी प्रभु का **अन्तः** =हृदय में **श्लेषः**=आलिङ्गन करनेवाला है। उस प्रभु को तू कभी विस्मृत नहीं करता। तेरी प्रार्थना यही हो कि ४. **द्यावापृथिवी**=मेरा मस्तिष्क व शरीर दोनों ही **कल्पेताम्**=शक्तिशाली बनें, सामर्थ्यवाले हों। मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल हो तथा शरीर दृढ़ हो। ५. **आपः ओषधयः**=जल और ओषधियाँ **कल्पन्ताम्**=मुझे शक्तिशाली बनाएँ। पीने के लिए पानी हो, भोजन के लिए वनस्पतियाँ यह सीधा-सादा

भोजन मेरे शरीर को नीरोग बनाकर शक्तियुक्त करे। ६. **अग्नयः**=दक्षिणाग्निरूप माता, गार्हपत्याग्निरूप पिता, आहवनीयाग्निरूप आचार्य' ,ये सब **पृथक्**=अलग-अलग, ५ वर्ष तक माता, ८ वर्ष तक पिता, २५ वर्ष तक आचार्य **कल्पन्ताम्**=मुझे शक्तिशाली बनानेवाले हों। ७. ये तीनों ही **मम**=मेरे **ज्यैष्ठ्याय**=बड़प्पन व उत्कर्ष के लिए **सव्रताः**=समान व्रतवाले हों। माता-पिता व आचार्य इन सबका एक ही कार्य व उद्देश्य हो कि हमें बालकों व युवकों के जीवन को बड़ा सुन्दर बनाना है। ८. **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में, अर्थात् इस संसार में **ये अग्नयः**=जो भी माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ हैं वे **समनसः**=समान मनवाले हों, सन्तानों का उत्तम निर्माण ही इनका उद्देश्य हो। ९. इन अग्नियों से सुन्दर जीवनवाले ये पति-पत्नी **वासन्तिकौ**=परस्पर उत्तम निवासवाले हों **ऋतू**=बड़े नियमित व व्यवस्थित जीवनवाले हों। **अभिकल्पमाना**=ये अपने को दोनों ओर शक्तिशाली बनाएँ, शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल। १०. **इन्द्रमिव**=देवराट् इन्द्र को जैसे देव प्राप्त होते हैं उसी प्रकार इस जितेन्द्रिय पति को **देवः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=प्राप्त हों। इसमें दिव्य गुणों का प्रवेश हो। ११. हे पति-पत्नि! तुम दोनों **तया देवतया**=सदा उस प्रभु-स्मरण के साथ कार्य करने से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में प्राणशक्ति के सञ्चारवाले की भाँति **ध्रुवे**=मर्यादित जीवनवाले होकर स्थिरता से **सीदतम्**=ठहरो।

भावार्थ—पति-पत्नी १. मधु-माधव हों, २. वासन्तिक हों, ३. ऋतु हों, ४. हृदय में प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले हों, ५. शरीर व मस्तिष्क को सशक्त बनाएँ, ६. जलों व वनस्पतियों का ही सेवन करें, ७. उत्तम माता-पिता व आचार्यवाले हों, ८. इनके माता-पिता व आचार्य का ध्येय इन्हें ज्येष्ठ बनाना हो, ९. वस्तुतः सब माता-पिता व आचार्य परस्पर एक मनवाले होकर इनका निर्माण करें, १०. इन्द्र बनकर दिव्य गुणों को प्राप्त करें, ११. उस प्रभु का स्मरण करते हुए मर्यादित जीवनवाले हों।

ऋषिः—सविता। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पत्नी=सविता=जन्मदात्री

अषाढासि सहमाना सहस्वारातीः सहस्व पृतनायतः।
सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्व॥२६॥

१. हे पत्नि! **अषाढा असि**=तू न कुचली जानेवाली है, शत्रु तेरा धर्षण नहीं कर सकते। २. **सहमाना**=तू शत्रुओं का पराभव करनेवाली है, अतः **अरातीः**=शत्रुओं को अथवा अदान की भावनाओं को तू **सहस्व**=नष्ट कर डाल। तुझ में देने की वृत्ति हो, यह देने की वृत्ति ही व्यसन-वृक्ष के तनेरूप लोभ को समाप्त करके मनुष्यों को सब वासनाओं से ऊपर उठाती है। एवं, दान=देना सचमुच दान=(दाप् लवने) बुराइयों का काटनेवाला हो जाता है और इस प्रकार यह दान=(दैप् शोधने) जीवन का शोधक होता है। ३. **पृतनायतः**=शत्रु-सैन्य की भाँति आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध-लोभ आदि को तू **सहस्व**=पराजित कर। ४. तू सचमुच इनका पराजय करनेवाली **सहस्रवीर्या**=अनन्त शक्तिवाली अथवा हास्ययुक्त—प्रसन्नतापूर्ण शक्तिवाली है, (स+हस्)। ५. **सा**=वह तू **मा**=मुझे **जिन्व**=प्रीणित करनेवाली हो। वस्तुतः उल्लिखित गुणों से युक्त पत्नी से ही पति प्रसन्नता का अनुभव कर पाता है। ऐसी ही पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देने के कारण प्रस्तुत मन्त्र की ऋषिका 'सविता' बनती है (सावित्री=सविता लिंगव्यत्ययः अथवा स्वसृ आदि में पाठ मानकर ङीप् नहीं हुआ)।

भावार्थ—पत्नी कामादि शत्रुओं का पराभव करनेवाली हो, तभी वह शक्तिसम्पन्न होगी और उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली बनेगी।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—२७,२९ निचृद्गायत्री, २८ गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मधुर-ही-मधुर

मधु वाताऽऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥२७॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥२८॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२॥ऽअस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥२९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार अपना सुन्दर जीवन बनानेवाले व्यक्ति ही 'ऋतायन्' हैं, ऋतम् आत्मन इछन्ति=जो अपने जीवन में सब क्रियाएँ ऋत के अनुसार करते हैं। **ऋत**=right=ठीक, उनकी सब क्रियाएँ ठीक स्थान व ठीक समय पर ही होती हैं। ऋत का अर्थ यज्ञ भी है। इनका जीवन यज्ञिय होता है। ये लोग स्वार्थ से ऊपर उठकर यज्ञमय जीवनवाले बनते हैं, सर्वभूतहिते रतः होते हैं। २. इस **ऋतायते**=ऋतमय जीवनवाले के लिए **वाताः**=वायुएँ **मधु**=मधुर होकर बहती हैं, हानिकर नहीं होती। **सिन्धवः**=नदियाँ भी इसके लिए **मधु**=मधुर बनकर **क्षरन्ति**=चलती हैं। इसके लिए नदियों का जल सदा स्वास्थ्यवर्धक ही होता है। **नः**=हम ऋत का पालन करनेवालों के लिए **ओषधीः**=ओषधियाँ **माध्वीः**= माधुर्यवाली **सन्तु**=हों। ३. मन्त्र में यह क्रम द्रष्टव्य है कि वर्षा की वायुएँ चलती हैं, नदियाँ बहती हैं और ओषधियाँ उत्तम होती हैं। ४. **नक्तं मधु**=रात्रि इसके लिए माधुर्यवाली हो **उत**=और **उषसः**=उषःकाल भी मधुर हों। रात्रि में यह मीठी नींद सोये, उषः इसके सब दोषों का दहन करती हुई इसे प्राणशक्ति-सम्पन्न बना दे। ५. **पार्थिवं रजः**=यह पार्थिवलोक या पृथिवी की मिट्टी इसके लिए **मधुमत्**=माधुर्यवाली हो। इसके शरीर पर मलने से इसके सब विष दूर हों **पिता द्यौः**=पितृतुल्य यह द्युलोक **नः**=हमारे लिए **मधुः अस्तु**=माधुर्यवाला हो। पृथिवी माता हो और द्युलोक पिता। माता-पिता की भाँति ये ऋतायन् के लिए हितकारी हों। संक्षेप में दिन-रात तथा पृथिवी व द्युलोक सब इसके लिए हितकारी हों। ६. **नः**=हमारे लिए **वनस्पतिः**=सब वनस्पतियाँ **मधुमान्**=माधुर्य को लिये हुए हों, **सूर्यः मधुमान् अस्तु**=सूर्य माधुर्यवाला हो। **गावः**=गौवें भी **नः**=हमारे लिए **माध्वीः**=माधुर्यपूर्ण दूध देनेवाली **भवन्तु**=हों। वस्तुतः सूर्य किरणों से वनस्पतियाँ भी प्राणशक्ति-सम्पन्न होती हैं और उनका सेवन करनेवाली गौवें भी उत्तम दूध देनेवाली होती हैं। ७. एवं, हमारा जीवन ऋतमय हो तो सारा ही आधिदैविक जगत् हमारे अनुकूल होता है, हमारे लिए मधुर होता है। जीवन में से ऋत के चले जाने पर ही आधिदैविक कष्ट आया करते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन ऋतमय हो, जिससे हमारा संसार मधुर बने। ऋतमय जीवनवाला ही गोतम, प्रशस्तेन्द्रिय होता है। ऐसा होने पर ही इन्द्र की कृपा होती है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

कर्म व्यापृति

अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभितापसीन्माग्निर्वैश्वानरः।
अच्छिन्नपत्राः प्रजाऽअनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्॥३०॥

१. **अपाम्**=कर्मों की **गम्भन्**=(गम्भीरे) गम्भीरता में **सीद**=तू स्थित हो, अर्थात् सदा

गम्भीरता से कर्मों में व्यापृत रह। गम्भीरता का अभिप्राय प्रसन्नता का अभाव नहीं है। इसका तात्पर्य है तेरे जीवन में उथलापन व विलास न आ जाए। २. गम्भीरता से कर्मों में लगे रहने पर **सूर्यः**=सूर्य **त्वा**=तुझे **मा अभिताप्सीत्**=समाप्त करनेवाला न हो। वस्तुतः क्रियाशून्य—आराम से लेटनेवाले को ही सर्दी-गर्मी लगा करती है। कार्यव्यापृत मनुष्य इनसे इतना व्याकुल नहीं होता। ३. **वैश्वानरः अग्निः**=देह में स्थित जाठराग्नि भी तुझे **मा**=सन्तप्त न करे। कर्म में लगे हुए व्यक्ति का अमाशय भी स्वस्थ रहता है। पाचनशक्ति की कमी आलसियों को ही सताती है। ४. कार्यव्यापृतता से पूर्ण स्वस्थ बनकर तू **अच्छिन्नपत्राः**=(अच्छिनानि पत्राणि अक्षयं वा यासाम्) अखण्डित अवयवोंवाली **प्रजाः**=सन्तानों को **अनुवीक्षस्व**=निरन्तर अपने पीछे आता हुआ देख, अर्थात् यह कर्मव्यापृति माता-पिता को पूर्ण स्वस्थ बनाकर अति सुन्दर सर्वांग सन्तानों को प्राप्त कराती है। ५. **अनु**=पीछे, अर्थात् अन्त में **त्वा**=तुझे **दिव्या वृष्टिः**=धर्ममेघ समाधि में प्राप्त होनेवाली आनन्द की वृष्टि **सचताम्**=सेवन करे। इस कार्यव्यापृति से तू चित्त की एकाग्रता के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योग को प्राप्त होनेवाला हो और यह कर्म-कुशलतारूपी योग का अभ्यास तुझे अद्भुत आनन्द देनेवाला हो।

भावार्थ—प्रतिक्षण प्रसन्नता से स्वधर्म में लगे रहने से, आलस्य को त्यागकर मूर्त्तिमान् कर्म बन जाने से मनुष्य १. सर्दी-गर्मी को सहन कर पाता है। २. उसकी पाचनशक्ति ठीक बनी रहती है। ३. उसकी सन्तानें स्वस्थ, सर्वाङ्ग होती हैं। ४. उसे एक अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

तीन समुद्र व तीन स्वर्ग—भूत, वर्त्तमान व भविष्यत् में,

त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गान्पां पतिर्वृषभऽइष्टकानाम्।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः॥३१॥

१. मन्त्र का ऋषि 'गोतम' **त्रीन् समुद्रान्**=(समुद्द्रवन्ति पदार्था येषु तान् भूत-भविष्यद्वर्त्तमानान् समयान्—द०) भूत, वर्त्तमान व भविष्यत्—तीनों कालों में **समसृपत्**=सम्यक्तया गति करता है और इस प्रकार इन तीनों कालों को **स्वर्गान्**=स्वर्ग बना देता है। क्रियाशीलता जीवन को स्वर्ग बनाती है। क्रियाशील व्यक्ति के लिए तीनों काल सुखद बने रहते हैं। २. यह **अपां पतिः**=कर्मों का रक्षक, अपने जीवन में कर्मों को नष्ट न होने देनेवाला **इष्टकानाम्**=घरों में यज्ञशील पत्नियों का (यज्+क्त=इष्ट=यज्ञ) **वृषभः**=सुखों का सेचन करनेवाला बनता है, अर्थात् क्रियाशील व्यक्ति सारे घर को सुखी बना देता है। क्रियाशील गृहस्थ का घर स्वर्ग होता है। ३. प्रभु कहते हैं कि **पुरीषम्**=(पॄ पालने) पालनात्मक कर्मों को **वसानः**=धारण करता हुआ, अर्थात् सदा पालनात्मक कर्मों में लगा हुआ तू **सुकृतस्य**=पुण्य के **लोके**=लोक में **तत्र**=वहाँ **गच्छ**=जा, **यत्र**=जहाँ कि **पूर्वे**=(पॄ पूरणे) पालन-पूरण करनेवाले लोग **परेताः**=गये हैं। जो भी व्यक्ति पालनात्मक कर्मों में लगा रहता है वह पुण्यकृत् लोगों के उत्तम लोकों को प्राप्त होता है।

भावार्थ—१. मनुष्य तीनों कालों में—भूत, वर्त्तमान व भविष्यत् में अथवा बाल्य, यौवन व वार्धक्य में सदा कार्यों में लगा रहे, तभी इसके तीनों काल स्वर्ग बनते हैं। २. यज्ञशील पति घर में पत्नियों के जीवन को सुखी बनाता है। ३. यह पालनात्मक कर्मों को करनेवाला व्यक्ति सदा पुण्यकृत् लोगों के लोकों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—गोतमः। देवता—द्यावापृथिव्यौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

यज्ञ-पूर्ति

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः ॥३२॥

१. 'द्यौष्पिता पृथिवी माता' इस वैदिक कथन के अनुसार पिता द्युलोक के समान है, माता पृथिवी के, अतः प्रभु कहते हैं कि—**मही द्यौः**=(मह पूजायाम्, दिवु=द्योतने) पूजा की मनोवृत्तिवाला तथा प्रकाशमय जीवनवाला पिता **च**=और **मही पृथिवी**=पूजा की मनोवृत्तिवाली तथा विस्तृत हृदयवाली माता **नः**=हमारे द्वारा वेदों में प्रतिपादित **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **मिमिक्षताम्**=(स्वैः स्वैः भागैः पूरयताम्—म०) अपने-अपने कर्त्तव्य भागों से पूर्ण करें। वेद में प्रभु ने नाना यज्ञों का उपदेश दिया है। इन्हीं यज्ञों से मनुष्य को फूलना-फलना है। प्रभु कहते हैं कि पति-पत्नी मिलकर इन यज्ञों को पूर्ण करने का प्रयत्न करें। २. इस प्रकार ये पति-पत्नी यज्ञों द्वारा **भरीमभिः**=भरणात्मक कर्मों से **नः**=हमें **पिपृताम्**=अपने में धारण करें। वस्तुतः ये इन यज्ञात्मक कर्मों से ही अपने में प्रभु के निवास का कारण बनते हैं। यज्ञ हमें प्रभु की प्राप्ति करानेवाले होते हैं। वस्तुतः इन यज्ञों में लगना अर्थात् लोकहित में लगे रहना ही सच्ची प्रभु-भक्ति है। 'सर्वभूतहिते रतः' ही तो भक्ततम है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो। यज्ञों से हम प्रभु को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

विष्णु बनना

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥३३॥

१. गत मन्त्र में यज्ञों पर बल दिया है। प्रस्तुत मन्त्र में सारे ब्रह्माण्ड का धारण करनेवाले प्रभु की ओर ध्यान दिलाते हैं और कहते हैं कि **विष्णोः**=(विष्णुर्वाव यज्ञः) उस यज्ञरूप प्रभु के **कर्माणि**=धारण के लिए किये जाते हुए कर्मों को **पश्यत**=देखो। २. **यतः**=प्रभु के कर्मों को देखने से मनुष्य **व्रतानि**=अपने कर्मों को भी **पस्पशे**=देखता है। उदाहरणार्थ—प्रभु दयालु हैं—यह भी दयालु बनने का ध्यान करता है। प्रभु न्यायकारी हैं—यह भी न्याय को अपनाता है। ३. इस प्रकार यह प्रभु के कर्मों से अपने कर्मों का निश्चय करनेवाला—प्रभु को ही अपना पुरोहित (model) बनानेवाला 'गोतम' उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली—सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु का **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला मित्र बनता है अथवा प्रभु को आदर्श मानकर कर्म करनेवाले **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का वह विष्णु **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला—अटूट मित्र बनता है।

भावार्थ—प्रभु के कर्मों को देखकर हम अपने कर्त्तव्यों का निर्धारण करें। ऐसा करने पर वे प्रभु सदा हमारे पूर्ण मित्र होते हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—जातवेदाः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पत्नी व पति की विशेषताएँ

ध्रुवासि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्योऽअधि जातवेदाः।
स गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥३४॥

१. गत मन्त्र में प्रभु के कर्मों को देखकर कर्त्तव्य-निर्धारण की बात कही है। वैसा

करनेवाली एक गृहिणी के लिए कहते हैं कि **ध्रुवा असि**=तू अपने जीवन में ध्रुव बनती है, मर्यादा से कभी विचलित नहीं होती। २. **धरुणा**=प्रभु की भाँति ही तू घर के सभी सभ्यों का धारण करनेवाली बनती है। ३. **इतः**=इन धारणात्मक कर्मों से **प्रथमं जज्ञे**=सर्वोत्तम विकास को प्राप्त करती है (progress of the first rank)। वस्तुतः जीवन का इससे अधिक विकास हो ही क्या सकता है कि हम प्रभु की पद-पद्धति पर प्रयाण करनेवाले बनें। ४. **एभ्यः योनिभ्यः**=इन जन्म-मरण की कारणभूत योनियों से **अधि जातवेदाः**=वे प्रभु ऊपर स्थित हैं, वे प्रभु अजर व अमर हैं। एक कर्मयोगी भी उस प्रभु की महिमा को जानता हुआ पुण्यकर्मा बनकर, जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है। एक गृहिणी भी इसी प्रकार धारणात्मक कर्मों में लगी हुई उस प्रभु को पाती है। ५. पति के लिए कहते हैं कि **सः**=वह **गायत्र्या**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणशक्ति की रक्षा के साथ, **त्रिष्टुभा**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों के रोकने के साथ तथा **अनुष्टुभा**=प्रतिक्षण प्रभु का स्मरण करने के साथ **देवेभ्यः**=विद्वानों से **हव्यम्**=ग्रहणीय ज्ञान को **वहतु**=धारण करे और इस प्रकार **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला हो। **देवेभ्यः हव्यं वहतु**=इस वाक्य का यह अर्थ भी हो सकता है कि दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए सदा हव्य को धारण करे, अर्थात् पवित्र पदार्थों को ही खाये और साथ ही दानपूर्वक बचे हुए को ही खानेवाला बने। यह वह मार्ग है जिसपर चलकर जीव भी प्रभु की भाँति इन योनियों से ऊपर उठ जाता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसता।

भावार्थ—पत्नी ध्रुवा व धरुणा हो। पति हव्य का सेवन करनेवाला हो।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—जातवेदाः। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सम्राट्-स्वराट्

इ॒षे रा॒ये र॑मस्व॒ सह॑से द्यु॒म्नऽऊ॒र्जेऽअप॑त्याय।
स॒म्राड॑सि स्व॒राड॑सि सारस्व॒तौ त्वोत्सौ॒ प्राव॑ताम्॥३५॥

१. इस संसार के अन्दर पति-पत्नी क्या-क्या करें? इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **इषे**=अन्न के लिए **राये**=धन के लिए **रमस्व**=तू क्रीड़ा कर, प्रसन्नतापूर्वक यत्न कर। वस्तुतः गृहस्थ का सारा खेल अन्न व धन जुटाने से ही प्रारम्भ होता है। अन्न और धन के बिना गृहस्थ नहीं चल सकता। २. **सहसे**=सहनशक्ति के लिए, सहनशक्ति देनेवाले बल के लिए **द्युम्ने**=यश के लिए **रमस्व**=यत्न कर। गृहस्थ में मनुष्य को बहुतों से मिलकर चलना है। कितनी ही बातों को सहन करना है। सहनशील व्यक्ति ही यशस्वी बन पाता है। असहनशील तो सभी को अपना शत्रु बना लेता है। ३. **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति के लिए **अपत्याय**=वंश को विच्छिन्न न होने देनेवाली (न+पत्) उत्तम सन्तान के लिए **रमस्व**=रमण कर, यत्नशील हो। बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न व्यक्ति ही स्वस्थ सन्तान को जन्म देता है, ४. परन्तु उल्लिखित सब बातों के लिए तू **सम्राट् असि**=सम्राट् बना है, शासक बना है। **स्वराट् असि**=अपना ही शासक बना है, किसी और का नहीं। स्वयं इन्द्रियों को वश में करनेवाला ही उत्तम सन्तान को जन्म देता है। ५. अपने पर शासन करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य मन व इन्द्रियों को वश में करे, अतः कहते हैं कि **सारस्वतौ उत्सौ**=(मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वती एतौ सारस्वतौ उत्सौ—श० ७।५।१।३१) मन और वाणी—ये दोनों **त्वा प्रावताम्**=तेरी रक्षा करें, अर्थात् ये दोनों तुझे विषयप्रवण न होने दें। इन दोनों को ही

तू भक्ति व ज्ञान में लगानेवाला बन। यह 'स्वराट्' बनने का मार्ग है। मन भक्ति में लगा हो, वाणी ज्ञान-प्राप्ति में। बस, फिर विषय-पङ्क में मग्न होने की आशंका नहीं। तैत्तिरीय में 'ऋक्साम वै सारस्वतौ उत्सौ' कहा है—विज्ञान व उपासना ही 'सारस्वत उत्स' हैं। मन का उपासना से सम्बन्ध है, वाणी का ज्ञान से, अतः भाव में कोई अन्तर नहीं है। मन और वाणी को उपासना व ज्ञान में लगाना ही अपना रक्षण है। ऐसा करने से ही मनुष्य 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रिय बना रहता है।

भावार्थ—हम स्वराट् बनें। मन और वाणी को उपासना व ज्ञान में लगाएँ।

ऋषिः—भारद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अश्वासः-मन्यवे

अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः। अरं वहन्ति मन्यवे॥३६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार मनुष्य 'स्वराट्'=जितेन्द्रिय बनकर शक्तिशाली बनता है और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भारद्वाज' होता है—अपने में शक्ति को भरनेवाला। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **देव**=हे दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप कृपा करके हमारे इस शरीररूप रथ में **हि**=निश्चय से **युक्ष्व**=उन घोड़ों—इन्द्रियरूप अश्वों को—जोतिए। **ये तव अश्वासः**=जो आपके घोड़े—अश्व हैं, (अश् व्याप्तौ), निरन्तर यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं। २. **साधवः** (साध्नुवन्ति परकार्याणि)=जो सदा उत्कृष्ट कार्यों को अथवा परार्थ को सिद्ध करनेवाले हैं। जो स्वार्थ के कारण दूसरों के हित का ध्वंस नहीं करते। ३. **अरम्**=(अलं—अत्यर्थम्) जो खूब ही **वहन्ति**=शरीररूप रथ को ले-चलते हैं, जो थकते नहीं। ४. और इस प्रकार निरन्तर अपने-अपने कार्य में लगे हुए **मन्यवे**=(दीप्तये—उ०) ज्ञान की दीप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं अथवा (यज्ञाय—म०) यज्ञों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त कराएँ और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगी रहें। ५. निरन्तर कर्मों में लगी हुई ये इन्द्रियाँ उसे शक्तिशाली बनाती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ उसके अन्दर ज्ञान का वर्धन करती हैं। 'वाज' के शक्ति व ज्ञान दोनों ही अर्थ हैं, अतः ये इन्द्रियाँ इसे शक्ति व ज्ञान-सम्पन्न करके सचमुच 'भारद्वाज' बना देती हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ कर्मों में व्याप्त होनेवाली, परहित को सिद्ध करनेवाली, अनथक कार्य करनेवाली तथा हमें ज्ञान-दीप्ति व यज्ञादि उत्तम कर्मों को प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

होता-पूर्व्यः

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२॥ऽअश्वाँ२॥ऽअग्ने रथीरिव।
नि होता पूर्व्यः सदः॥३७॥

१. गत मन्त्र की प्रार्थना के अनुसार शरीर में उत्तम इन्द्रियाश्वों को जोतकर यह 'भारद्वाज' बड़े विशिष्ट रूपवाला बन जाता है—'विरूप' हो जाता है। इस विरूप से प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=अपनी अग्रगति को सिद्ध करनेवाले जीव! तू **हि**=निश्चय से **अश्वान् युक्ष्व**=इस शरीर में उन घोड़ों को जोत जो सदा उत्तम कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं तथा **देवहूतमान्**=तुझमें अतिशयेन दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले हैं, अर्थात् तुझे दिव्य गुणों

से भर देनेवाले हैं। २. **रथीः इव**=तू एक उत्तम रथ-स्वामी के समान बन (रथोऽस्यास्तीति-ईर=मत्वर्थे)। जैसे एक उत्तम सारथि घोड़ों को न आलसी होने देता है और न ही उन्हें मार्ग-भ्रष्ट होने देता है, उन्हें लक्ष्य स्थान की ओर अग्रसर करता हुआ लक्ष्य पर पहुँचकर ही विश्राम लेता है, इसी प्रकार तू भी इन इन्द्रियाश्वों को न अकर्मण्य होने दे और न विषयासक्त होने दे। इनके द्वारा निरन्तर उन्नति करता हुआ तू भी मोक्ष तक पहुँच। ३. **होता**=इस संसार में दानपूर्वक अदन करनेवाला बन—यज्ञ-शेष का सेवन करनेवाला बन, अथवा अपने में ज्ञान की आहुति देनेवाला बन। ४. **पूर्व्यः**=तू सर्वप्रथम स्थान में पहुँचा हुआ होकर ही **निषदः**=नम्रता से आसीन हो। जब तक तू मोक्षरूप परम स्थान में न पहुँच जाए तब तक तेरा 'यज्ञों को करना—ज्ञान की दीप्ति को अपने में भरना' रूप पुरुषार्थ समाप्त न हो, तू बीच में ही बैठ न जाए। तू सबसे अग्र स्थान में पहुँचकर ही दम ले।

भावार्थ—विशिष्ट रूपवाला वही बनता है जोकि १. अपने में दिव्यता का अवतरण करता है। २. दानपूर्वक अदन करता है। ३. लक्ष्य स्थान पर पहुँचकर ही विश्रान्त होता है। ४. इन्द्रियाश्वों को पूर्णतया वश में करके उन्हें मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता और आगे-आगे बढ़ता चलता है।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

हिरण्यय वेतस्

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
घृतस्य धाराऽअभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्येऽअग्नेः॥३८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब एक व्यक्ति इन्द्रियाश्वों को उत्तम सारथि की भाँति पूर्णतया वश में करके चलता है तब उसका ज्ञान इस प्रकार बढ़ता है कि उसमें **धेनाः**=(वाक्—नि० १।११) ज्ञान की वाणियाँ **सरितः न**=नदियों की भाँति **सम्यक् स्रवन्ति**=उत्तमता से प्रवाहित होती हैं। ये ज्ञान की वाणियाँ **अन्तः**=उसके अन्दर **हृदा**=हृदय में निवास करनेवाली श्रद्धा से तथा **मनसा**=मननशक्ति से, ज्ञानवर्धक तर्क-वितर्क से **पूयमानाः**=पवित्र की जाती हैं, अर्थात् एक जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान की वाणियों का श्रद्धापूर्वक अध्ययन करता है और अपने उस ज्ञान को तर्क-वितर्क से सदा शुद्ध बनाये रखता है। तर्क उसके ज्ञान में किसी मलिनता को नहीं आने देता। श्रद्धा से उसका ज्ञानांकुर सिक्त होकर बढ़ता है तो तर्क से उसके ज्ञान-वृक्ष के पत्तों में कीड़े नहीं लगते। २. अब यह 'विरूप'=प्रत्येक पदार्थ का विशिष्ट प्रकार से निरूपण करनेवाला कहता है कि मैं अपने अन्दर **घृतस्य**=मलिनता का क्षरण करनेवाली ज्ञान-दीप्तियों की **धाराः**=वाणियों को (धारा=वाक्—नि०) अथवा धाराओं को **अभिचाकशीमि**=देखता हूँ। इस प्रकार इस विरूप को अपने अन्दर प्रकाश दिखता है। ३. **अग्नेः**=प्रकाशमय अन्तःकरणवाले, अग्रेणी पुरुष के **मध्ये**=हृदयाकाश में **हिरण्ययः**=वह ज्योतिर्मय **वेतसः**=सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाला (वी=क्षेपण) परमात्मा निवास करता है। वस्तुतः ज्ञान की चरमसीमा ही तो प्रभु हैं—अतः ज्ञान को निरन्तर बढ़ानेवाला पुरुष प्रभु की ओर बढ़ रहा है और अन्त में यह प्रभु को पा लेता है। हृदयासीन प्रभु का यह दर्शन करता है।

भावार्थ—हममें ज्ञान की वाणियाँ बहें, अर्थात् हम निरन्तर स्वाध्याय करें। श्रद्धा व तर्क से ज्ञान को निर्मल करें। जब इस ज्ञान के प्रकाश को हम अपने में देखेंगे तब हृदय

में उस प्रभु का दर्शन करेंगे जो ज्योतिर्मय हैं और सब बुराइयों को परे फेंक देते हैं।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

वाजी=गति देनेवाला

ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा।
अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च॥३९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार हृदय में उस 'हिरण्यगर्भ' प्रभु का दर्शन करनेवाला 'विरूप' कहता है कि **ऋचे त्वा**=मैं स्तुति (ऋच् स्तुतौ) के लिए तुझे प्राप्त होता हूँ। आपका दर्शन मुझे स्तुतिमय जीवनवाला कर देता है—मुझे किसी की निन्दा करना व सुनना रुचिकर ही नहीं रहता। २. **रुचे त्वा**=उत्तम रुचि के लिए आपको प्राप्त होता हूँ। मेरी इच्छाएँ व मानस झुकाव उत्तम हों, इसके लिए मैं आपके समीप आता हूँ। **३. भासे त्वा**=पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति की आँख में प्रकट होनेवाली चमक (दीप्ति) के लिए मैं आपको प्राप्त होता हूँ। आपका दर्शन मुझे पूर्ण स्वस्थ करता है और स्वास्थ्य की झलक मेरी आँख की दीप्ति में दिखती है। ४. **ज्योतिषे त्वा**=आपकी वाणी को सुनते हुए मैं ज्ञान की ज्योति प्राप्त करने के लिए आपको प्राप्त करता हूँ। आपकी उपासना मेरे श्रोत्रों को आपकी वाणी को सुनने के योग्य बनाती है और इस प्रकार मेरा ज्ञान निरन्तर बढ़ता है। ५. इस ज्ञान के बढ़ने से मैं देख पाता हूँ कि **इदम्**=यह ब्रह्म ही **विश्वस्य भुवनस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का **वाजिनं अभूत्**=प्रेरक बल है, गति देनेवाली शक्ति है (वाज=बल, वाजिनम्=बलवाला) सारा ब्रह्माण्ड इसी से गति दिया जा रहा है **'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'**=सब भूतों को प्रभु ही गति दे रहे हैं। ५. **च**=ब्रह्माण्ड को तो वे गति दे ही रहे हैं, इस प्राणियों के देह में स्थित **वैश्वानरस्य अग्नेः**=सब नरों की हितकारी जाठराग्नि को भी वे प्रभु ही गति दे रहे हैं। सब ब्रह्माण्डों व पिण्डों का सञ्चालन प्रभु ही कर रहे हैं।

भावार्थ—उस प्रभु की प्राप्ति से हमारी वाणी स्तुति ही करती है, निन्दा नहीं। हमारे मनों की रुचियाँ उत्तम ही होती हैं, हीन नहीं। हमारी आँख स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकती हैं और श्रोत्र ज्ञान-श्रवण से चमकते हैं। अन्ततः इस साक्षात् प्रभु को ब्रह्माण्ड का सञ्चालन करते हुए देखते हैं और अपने शरीरों में वैश्वानररूप से अन्न-पाचन भी उसी से होता देखते हैं।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

अग्नि+रुक्म

अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान्।
सहस्रदाऽअसि सहस्राय त्वा॥४०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार ज्योति प्राप्त करनेवाला व्यक्ति उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता है, अतः कहते हैं कि **अग्निः**=यह प्रकाशमय जीवनवाला व निरन्तर आगे बढ़नेवाला व्यक्ति **ज्योतिषा ज्योतिष्मान्**=ज्ञान की ज्योति से उत्तम ज्योतिवाला होता है और साथ ही **रुक्मः**=यह स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकनेवाला **वर्चसः**=शरीर में होनेवाली वर्चस् शक्ति से—रोगकृमियों का संहार करनेवाली शक्ति से **वर्चस्वान्**=वर्चस्वी बनता है। (प्रभा=ज्योतिः, शरीरगतकान्तिः=वर्चः)। संक्षेप में यह 'ब्रह्म और क्षत्र' दोनों का विकास करता है। इसकी बुद्धि ज्ञान से दीप्त है, तो शरीर स्वास्थ्य की दीप्ति से। २. ज्ञानी व स्वस्थ बनकर यह

संसार में धनार्जन करनेवाला होता है, परन्तु उस धन को यह जोड़ता नहीं रहता। **सहस्रदाः असि**=सहस्रसंख्यक धनों का देनेवाला होता है **'शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर'**=यह सैकड़ों हाथों से कमाता है, तो हज़ारों हाथों से देता भी है। ३. **त्वा**=इस देनेवाले तुझे **सहस्राय**=(स+हस्) मैं सदा आनन्दमयता प्रदान करता हूँ। वस्तुतः देने में ही आनन्द है। प्रभु पूर्णरूप से दाता है, अतः वे पूर्ण आनन्दवाले हैं। जीव भी जितने अंश में दान करनेवाला होता है, उतने ही अनुपात में आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—हम अग्नि बनकर ज्ञान-ज्योति से चमकें और वर्चस्वी बनकर रुक्म (तेजस्वी) हों। खूब कमाएँ, खूब दें, जिससे हमारा जीवन आनन्दमय हो।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

क्रोध व अभिमान का त्याग

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्।
परिवृङ्धि हरसा माभि मंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥४१॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति इस बात पर थी कि 'खूब दें'। दे वही पाता है जो लोभ से ऊपर उठता है। लोभ से ऊपर उठकर ही मनुष्य हृदय को पवित्र बना पाता है। लोभ से शरीर का स्वास्थ्य नष्ट होता है। लोभ से बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार लोभ को छोड़ने से 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी की उन्नति होती है। **पयसा**=इस आप्यायन—वर्धन—के द्वारा **आदित्यं गर्भम्**=उस ज्योतिर्मय गर्भवाले 'हिरण्यगर्भ' प्रभु को **समङ्धि**=(समञ्जयसि) तू अपने में व्यक्त करता है, तुझे प्रभु का दर्शन होता है। २. उस प्रभु का जो **सहस्रस्य प्रतिमाम्**=आनन्दमयता की मूर्त्ति हैं अथवा शतशः धनों के दाता हैं (बहुधनप्रद—म०) और **विश्वरूपम्**=सब रूपों के प्रकाशक हैं। सम्पूर्ण ज्ञानों का निरूपण करनेवाले है, अर्थात् उस प्रभु के दर्शन से (क) जीवन आनन्दमय होगा। (ख) सब आवश्यक धन प्राप्त होंगे तथा (ग) हमारा ज्ञान बढ़ेगा। ३. उस प्रभु के दर्शन के लिए तू (क) **हरसा**=मानस स्वास्थ्य का हरण करनेवाले क्रोध से **परिवृङ्धि**=अपने को बचा (परिवर्जय), अर्थात् सदा क्रोध से बच। (ख) **माभि मंस्थाः**=अभिमान मत कर। अभिमान सारी उन्नति को समाप्त करके हमें प्रभु से दूर ले-जाता है। प्रभु का सान्निध्य अहंभाव को समाप्त करनेवाला है। (ग) **चीयमानः**=स्वास्थ्य, सत्य व ज्ञान की वृद्धि करता हुआ तू **शतायुषम्**=पूर्ण आयुष्य का, शत वर्ष के जीवन का **कृणुहि**=सम्पादन कर। सौ वर्ष तक नीरोगता से जीनेवाला बन।

भावार्थ—प्रभु की भक्ति शरीर, मन व बुद्धि के आप्यायन से होती है। प्रभु-प्राप्ति के लिए साधना यह है कि हम क्रोध छोड़ें, अभिमान न करें, और उन्नति करते हुए सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें। प्रभु-प्राप्ति होने पर हमें आनन्द प्राप्त हो। इससे अनायास योगक्षेम चलेगा, ज्ञान बढ़ेगा।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मा हिंसीः

वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानꣳसरिरस्य मध्ये।
शिशुं नदीनाꣳहरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन् ॥४२॥

१. विरूप के लिए कहते हैं कि अपनी इस विरूपता को स्थिर रखने के लिए **मा**

हिंसीः=निम्नलिखित वस्तुओं को नष्ट मत होने दे–(क) **वातस्य**=वायु की **जूतिम्**=(जूतिर्गतिः, वायुवत् शीघ्रगतिम्–म०) गति को अर्थात् वायु की भाँति शीघ्रगति को। वायु की अविच्छिन्न गति के समान तेरे जीवन में सदा क्रिया हो, तू कभी अकर्मण्य न बने। (ख) **वरुणस्य नाभिम्**=द्वेष–निवारण की देवता के बन्धन (नह बन्धने) को–व्रत को। तू अपने को इस दृढ़ बन्धन में बाँध कि तूने कभी किसी से द्वेष नहीं करना। शक्ति की अल्पता के कारण हम सबका भला करने में समर्थ न हो सकेंगे, परन्तु 'किसी से द्वेष न करना, किसी के अहित की बात को मन में नहीं आने देना' इस व्रत का पालन तो असम्भव नहीं है। (ग) **सरिरस्य**=(सृ गतौ) गतिशीलता के तथा (सरिरं=जलं, 'सरस्वती'=ज्ञान–जल के प्रवाहवाली) ज्ञान–जल के **मध्ये**=बीच में **जज्ञानम्**=विकसित होते हुए **अश्वम्**=इन्द्रिय–समूह को। तू अपनी कर्मेन्द्रियों को सदा क्रिया में व्याप्त रख तथा ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान–जल का ग्रहण करनेवाला बन। अपने–अपने कार्य में लगी हुई इन्द्रियाँ ही सबल बनती हैं। सबल बनने के साथ वे विषयों की ओर झुकाववाली भी नहीं होतीं। २. विरूप के लिए अन्तिम बात यह कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्रगति के साधक विरूप! तू **नदीनाम्**=स्तोताओं के **शिशुम्**=सन्तान, उनके हृदयों में प्रकट होने के कारण उनके सन्तानतुल्य (हृदयात् अधिजायसे) अथवा (शो तनूकरणे) स्तोताओं की बुद्धि तीव्र करनेवाले **हरिम्**=बुद्धि देकर दुःखों का हरण करनेवाले **अद्रिबुध्नम्**=(अ+दृ) न विदारण के योग्य अथवा न नष्ट होनेवाले सबके आधारभूत **परमे व्योमन्**=तेरे उत्कृष्ट हृदयाकाश में स्थित प्रभु को **मा हिंसीः**=मत नष्ट कर, आँख से ओझल मत होने दे (नश अदर्शने)। अपने हृदय में सदा इस प्रभु का दर्शन कर और वायुवत् कार्यों में लगा रह।

भावार्थ–१. विरूप–विशिष्ट रूपवाले के लिए क्रिया इस प्रकार स्वाभाविक हो जाए जैसे वायु के लिए। २. वह किसी से द्वेष न करे। ३. इन्द्रियों को गति व ज्ञान में रखकर विकसित शक्तिवाला हो और ४. हृदयदेश में स्थित उस प्रभु को कभी भूले नहीं जो स्तोताओं के ज्ञान को बढ़ाते हैं, उनके कष्टों का निवारण करते हैं, और उनके न हिंसित होने का आधार बनते हैं।

ऋषिः–विरूपः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**– निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

मा हिंसीः

अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदितिं विराजम्॥४३॥

१. पिछले मन्त्र की प्रेरणा को सुनकर 'विरूप' कहता है कि मैं **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु की **नमोभिः**=नमनों के द्वारा, अभिमान को छोड़कर नम्रता धारण के द्वारा **ईडे**=स्तुति करता हूँ। जो प्रभु २. **अजस्रम्**=(अनुपक्षीणम्–द०) कभी क्षीण नहीं होते। मैं भी तो इस अनुपक्षीण प्रभु का स्तवन करता हुआ अक्षीण बन पाऊँगा। ३. **इन्दुम्**=(इन्द to be powerful) जो प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं अथवा जो प्रभु परमैश्वर्यवाले हैं। ४. **अरुषम्**=जो प्रभु (अ–रुष्) क्रोधशून्य हैं। वस्तुतः अनुपक्षीणता व शक्तिमत्ता का रहस्य है ही अक्रोध में। क्रोध से ऊपर उठकर मैं भी क्षय व निर्बलता से ऊपर उठता हूँ। ५. **भुरण्युम्**=सबका भरण करनेवाले हैं। वे प्रभु अपनी सर्वशक्तिमत्ता व परमैश्वर्य से सभी का भरण कर रहे हैं, मैं भी यथाशक्ति भरण करनेवाला बनूँ। ६. **पूर्वचित्तिम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि

ऋषियों को वेदज्ञान देनेवाले प्रभु को में उपासित करता हूँ। सच्चा उपासक बनकर मैं भी उस चिति व ज्ञान का अधिकारी बनता हूँ। ७. 'विरूप' के इस संकल्प को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **सः**=वह तू **पर्वभिः**=पर्वों से, पूर्णिमा व अमावास्या से तथा **ऋतुशः**=ऋतु-ऋतु से **कल्पमानः**=अपने को शक्तिशाली बनाता हुआ **गाम्**=वेदवाणी को **अदितिम्**=अखण्डन व स्वास्थ्य को **विराजम्**=विशिष्ट शासन को **मा हिंसीः**=मत नष्ट होने दे, अर्थात् 'पूर्णिमा' के दिन 'मुझे पूर्ण बनना है—प्राणादि सोलह-की-सोलह कालाओं को अपने में संगृहीत करनेवाला होना है' इस भावना को दृढ़ कर। अमावस के दिन 'साथ रहने की भावना—मिलकर चलने की वृत्ति—को दृढ़ कर। ग्रीष्म में पसीने के साथ सब मलिनता को दूर करके पवित्र बनने की भावनावाला हो। वर्षा में सबपर सुखों की वृष्टि करने की भावनावाला हो।' सब मलों को शीर्ण करना सीख! हेमन्त तुझे गति व वृद्धि की प्रेरणा दे रहा है और शिशिर (शश प्लुतगतौ) तुझे स्फूर्ति से क्रिया करनेवाला बनाये। इस प्रकार पर्वों व ऋतुओं से प्रेरणा लेता हुआ तू अपने को शक्तिशाली बना। अपने जीवन में कभी वेदज्ञान की वाणियों को नष्ट न होने दे। तेरा स्वाध्याय सतत चले यही तेरा परम तप हो। ज्ञान के द्वारा विषयासक्ति को दूर करके तू अपने स्वास्थ्य को स्थिर रख। तेरा स्वास्थ्य खण्डित न हो (health का break down न हो)। इस स्वास्थ्य को—शारीरिक ही नहीं अपितु मानस स्वास्थ्य को भी नष्ट न होने देने के लिए तू विराजम्—अपनी इन्द्रियों व मन का उत्तम शासन करनेवाला बन। इस प्रकार ज्ञान (गौः) तेरे मस्तिष्क को, अदिति तेरे शरीर को तथा विराज तेरे मन को दीप्त करनेवाले होंगे और यही तेरा सच्चा स्तवन भी होगा।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें और ज्ञान, स्वास्थ्य व मानस शासन को नष्ट न होने दें।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

असुरस्य माया

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाꣳरजसः परस्मात्।
महीꣳसाहस्त्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्॥४४॥

१. हे विरूप! गत मन्त्र के अनुसार स्तवन करनेवाला बनकर विशिष्टरूपता को सिद्ध करनेवाला और **अग्ने**=आगे बढ़नेवाला! तू **परमे व्योमन्**=इस हृदयाकाश में प्रभु के स्थापन के कारण उत्पन्न हुई **असुरस्य मायाम्**=प्राणशक्ति देनेवाले (असून् राति) प्रभु की प्रज्ञा को, जहाँ प्रभु हैं वहाँ प्रभु का प्रकाश तो होगा ही, **मा हिंसीः**=नष्ट मत कर। अपने हृदय को उस प्राणों के प्राण प्रभु की प्रज्ञा से पूर्ण रख जो प्रज्ञा २. **त्वष्टुः वरुणस्य**=संसार के निर्माता प्रभु की **वरूत्रीम्**=वरण करनेवाली है। जो प्रज्ञा प्रभु को प्राप्त करानेवाली है। ३. जो प्रज्ञा **वरुणस्य नाभिम्**=श्रेष्ठता का केन्द्र है। प्रज्ञा ही मनुष्य को द्वेषादि से ऊपर उठाकर उत्तम जीवनवाला बनाती है। **अविम्**=जो रक्षण करनेवाली है तथा जो प्रज्ञा **रजसः परस्मात्**=रजोगुण से पर-देश में **जज्ञानाम्**=प्रादुर्भूत होती है, अर्थात् जो प्रज्ञा रजोगुण से ऊपर उठने पर प्राप्त होती है। ४. **महीम्**=यह प्रज्ञा तुझे 'मह पूजयाम्' पूजा की मनोवृत्तिवाला बनाती है। ५. **साहस्त्रीम्**=(सहस्रोपकारक्षमम्) यह प्रज्ञा तुझे हज़ारों के उपकार में सक्षम करती है। तू अधिक-से-अधिक कल्याण करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम हृदयाकाश में प्रकट होनेवाले प्रभु के प्रकाश को नष्ट न होने दें,

जिससे हम द्वेष व दुर्गुणों से ऊपर उठकर सहस्त्रशः प्राणियों का कल्याण करनेवाले बनें।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु का प्रिय कौन?

योऽअग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्याऽउत वा दिवस्परि।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु॥४५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की प्रज्ञा को प्राप्त करके हम अपने जीवनों को ऐसा बनाते हैं कि हमपर प्रभु का कोप नहीं होता, प्रत्युत हम प्रभु के प्रिय बनते हैं। हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **तम्**=उस व्यक्ति को **ते हेडः**=तेरा क्रोध **परिवृणक्तु**=(परिवर्जयतु—उ०) छोड़ दे। वह व्यक्ति आपके कोप का पात्र न हो। कौन? २. **यः**=जो **अग्नेः**=दक्षिणाग्निरूप माता से, गार्हपत्याग्निरूप पिता से, आहवनीयाग्नि आचार्य से **अग्निः**=उन्नत जीवनवाला, अपने को अग्र स्थान में प्राप्त करानेवाला बनता है। वह **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'** उत्तम माता-पिता व आचार्यवाला होकर ज्ञान के प्रकाश से चमकता है। ३. **यः**=जो **पृथिव्याः**=(पृथिवी शरीरम्) इस शरीर के **शोकात्**=(शुक् दीप्तौ) स्वास्थ्य की दीप्ति से **अध्यजायत**=प्रादुर्भूत होता है, प्रकट होता है। यह शरीर प्रभु ने 'ऋषियों के आश्रम' (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) व 'देवों के मन्दिर' (सर्वा यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते) के रूप में बनाया है। इसे स्वस्थ व निर्मल रखना हमारा मौलिक कर्त्तव्य है। ४. **यः**=जो **उत वा**=अपिच=**दिवः परि**=(द्युलोकोपरि स्थितात्—मा०) मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थित **शोकात्**=ज्ञान की दीप्ति से **अध्यजायत**=प्रकट होता है। संक्षेप में जो स्वस्थ शरीरवाला तथा दीप्त मस्तिष्कवाला है, वही प्रभु का प्रिय होता है। यही आदर्श पुरुष है। इसी ने क्षत्र व ब्रह्म का अपने में समन्वय किया है। ५. प्रभु का प्रिय वह बनता है **येन**=जिससे **विश्वकर्मा**=सारे संसार को बनानेवाला प्रभु **प्रजाः**=उत्तम सन्तानों को **जजान**=उत्पन्न करता है, अर्थात् जो गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तान को जन्म देता है।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वह होता है जो १. उत्तम माता, पिता व आचार्य के सम्पर्क में आकर ज्ञानी बनता है। २. शरीर में स्वास्थ्य की कान्तिवाला होता है। ३. मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि से दीप्त होता है तथा ४. उत्तम सन्तान का निर्माण करता है और उस सन्तान को प्रभु की ही समझता है।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वह प्रभु

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳसूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥४६॥

१. गत मन्त्र में प्रभु का प्रिय बनने का उल्लेख था। यदि हम प्रभु के प्रिय बनते हैं तो प्रभु का तेज हममें भी प्रकट होता है। वे प्रभु सब देवों को देवत्व व द्युति प्राप्त कराते हैं। **देवानाम्**=सब देवों का **चित्रम्**=अद्भुत—पूजनीय **अनीकम्**=तेज (brilliance, splendour) **उदगात्**=उदय हुआ है। २. वे प्रभु ही **मित्रस्य**=दिवसाभिमानी इस दिन के देवता सूर्य के **वरुणस्य**=रात्र्यभिमानी—रात्रि के देवता चन्द्र के तथा **अग्नेः**=इस भौतिक पृथिवीस्थ अग्नि के **चक्षुः**=प्रकाशक हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि को प्रकाश देनेवाले प्रभु ही हैं। ३.

उस प्रभु ने **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक को **आप्राः**= समन्तात् पूर्ण किया हुआ है, वे प्रभु इनमें सर्वत्र व्याप्त हैं। उन्हीं की व्याप्ति से प्रत्येक पदार्थ विभूति से दीप्त हो रहा है। ४. **सूर्यः**=वे प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड के सूर्य हैं, प्रकाशक हैं अथवा गति देनेवाले हैं। ५. वे **जगतःतस्थुषः च**=जङ्गम व स्थावर जगत् के **आत्मा**= आत्मा हैं। इन सबमें स्थित होकर इनका नियमन कर रहे हैं।

भावार्थ—हम सब देवों के तेज प्रभु का सर्वत्र दर्शन करें और उसी को अन्तर्यामी जान अपने में 'पौरुष' के रूप में उस प्रभु को देखें।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्यापक दृष्टिकोण

इमं मा हिꣳसीर्द्विपादं पशुꣳसहस्राक्षो मेधाय चीयमानः। मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥४७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सब जंगम स्थावर के अन्दर प्रभु व्याप्त हो रहे हैं। सबमें प्रभु की व्याप्ति को देखनेवाला कभी किसी की हिंसा नहीं कर सकता, अतः प्रभु कहते हैं कि २. **इमम्**=इस **द्विपादं पशुम्**=दो पाँववाले पुरुषरूप पशु को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। सभी मनुष्यों का तू भला चाहनेवाला बन, औरों के अहित से तेरा हित सिद्ध होनेवाला नहीं। ३. **सहस्राक्षः**=तू हज़ारों आँखोंवाला हो, व्यापक दृष्टिकोणवाला हो। ४. **मेधाय**=तू तो उस प्रभु के साथ सङ्गम (मेधृ सङ्गमे to meet) के लिए **चीयमानः**=अपने में शक्तियों का सञ्चय व वर्धन करनेवाला बन। जब मनुष्य का उद्देश्य भौतिक हो जाता है तभी वह संकुचित भी बनता है और औरों की हिंसा से अपने पोषण का विचार करता है। ५. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **मयुं पशुम्**=यह जो मृगविशेष पशु है **मेधम्**=(शुद्धम्) जो बड़ा शुद्ध व निर्दोष—किसी का बुरा चिन्तन न करनेवाला है, उसे तू **जुषस्व**=प्रेम करनेवाला बन। **तेन**=उससे **तन्वः**=शरीर की शक्तियों को **चिन्वानः**=बढ़ाता हुआ **निषीद**=तू यहाँ स्थित हो। मयु कृष्णमृग है। ऋषियों के आश्रमों में इन मृगों का हम विशिष्ट स्थान देखते हैं, अतः यह हमारे जीवन के साथ निकटता से सम्बद्ध है। ६. हाँ, जो हरिण बहुत बढ़कर खेती आदि की हानि का कारण बनें उस **मयुम्**=हरिण को **ते**=तेरा **शुक्**=मन्यु **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, **तम्**=उस हरिण को ही **ते शुक्**=तेरा क्रोध **ऋच्छतु**=प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसे हम कृष्यादि विनाशक होने से अवाञ्छनीय समझते हैं।

भावार्थ—हम सब मनुष्यों का भला करें। व्यापक दृष्टिकोणवाले बनें। प्रभु-सङ्गम के लिए अपनी शक्तियों का वर्धन करें। मयु आदि पशुओं से भी, अपने जीवन के लिए उन्हें उपयोगी जानते हुए प्रेम करनेवाले बनें। नाशक प्राणियों पर ही हमारा क्रोध हो।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

घोड़ा व आरण्य गौर

इमं मा हिꣳसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥४८॥

१. गत मन्त्र की भावना का ही विकास करते हुए कहते हैं कि **इमं एकशफम् पशुम्**=इस एक खुरवाले पशु घोड़े को **मा हिंसीः**=मत नष्ट कर। वह जो **कनिक्रदम्**

(अत्यर्थं क्रन्दितारम्) खूब उत्साहपूर्वक हिनहिनानेवाला है तथा **वाजिनेषु वाजिनम्**=(वेगवत्सु वेगवन्तः—उ०) वेगवालों में वेगवाला है, बड़ी तीव्र गतिवाला है। यह घोड़ा तेरे लिए 'क्षत्र' की वृद्धि करनेवाला है। २. यह घोड़ा तेरे लिए अत्यन्त उपयोगी है। मैं **ते**=तेरे लिए इस **आरण्यम्**=वन में निवास करनेवाले **गौरम्**=मृगविशेष को भी **अनुदिशामि**=(ददामि—म०) देता हूँ अथवा उसका उपदेश करता हूँ। **तेन**=उससे **तन्वः**=शरीर की शक्तियों को **चिन्वानः**=बढ़ाता हुआ **निषीद**=तू निषण्ण हो, इस शरीर में स्वस्थ होकर रहनेवाला हो। इसका शृङ्ग तेरे पैत्तिक विकारों को दूर करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस मृग से तूने प्रेम ही करना, उसे मारना नहीं। ३. हाँ, **शुक्**=तेरा क्रोध **गौरम्**=हानिकर मृग को **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, उसी मृग को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यम्**=जिसे कृष्यादि विनाशक होने के कारण **द्विष्मः**=हम अवाञ्छनीय समझते हैं।

भावार्थ—घोड़ा तेरे लिए अत्यन्त उपयोगी पशु है। आरण्य गौरमृग भी तेरे जीवन में उपयोगी है। यदि वह संख्या में बहुत बढ़कर तुम्हारी कृषि आदि के विनाशक हो जाएँ तभी तू उनपर क्रोध करना।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

गौ-गवय

इमꣳसाहस्रꣳशतधारमुत्सं व्यच्यमानꣳसरिरस्य मध्ये। घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्। गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥४९॥

१. **इमम्**=इस **साहस्रम्**=(सहस्रोपकारक्षमम्—म०) हज़ारों का उपकार करने में समर्थ **शतधारम्**=शतसंख्याक क्षीर-धाराओं से युक्त **उत्सम्**=दूध के कूएँ के समान अतएव **सरिरस्य**=(इमे वै लोकाः सरिरम्—श० ७।५।२।३४) इस लोक में **व्यच्यमानम्**=विविध रूप से उपजीव्यमान **घृतं दुहानाम्**=दूध के द्वारा घृत का प्रपूरण करती हुई **जनाय**=मनुष्यों के लिए **अदितिम्**=अदीना देवमाता के तुल्य अथवा (दो अवखण्डने) स्वास्थ्य को न खण्डित होने देनेवाली इस गौ को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। २. यह गौ तो तुझे **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट आकाश में प्राप्त करानेवाली है। इसके दूध से तेरा स्वास्थ्य उत्तम होगा, मन निर्मल होगा, बुद्धि तीव्र बनेगी। इस प्रकार तेरी स्थिति कितनी ऊँची हो जाएगी! ३. गौ का ही नहीं, मैं तो **ते**=तुझे **आरण्यं गवयम्**=इस जङ्गली गवय पशु को **अनुदिशामि**=देता हूँ। **तेन**=उससे **तन्वः**=अपने शरीर की शक्तियों को **चिन्वानः**=बढ़ाता हुआ **निषीद**=निषण्ण हो। इस गवय के शृंग की भस्म तो तुझे कैन्सर से भी बचानेवाली होगी। ४. हाँ, **ते शुक्**=तेरा क्रोध **गवयम्**=हानिकर नील गाय को **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, परन्तु उसी नील गाय को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यम्**=जिसे ध्वंसक होने से **द्विष्मः**=हम अवाञ्छनीय समझते हैं।

भावार्थ—गौ मनुष्य के लिए अत्यन्त उपकारी पशु है, इसे मारना नहीं, गवय से भी प्रेम करना है। हाँ, यदि वह ध्वंसक हो जाएँ तब उसे समाप्त करना ही है। यह न भूलना कि यह गौ तेरे लिए 'अदिति' है—तेरा किसी भी तरह खण्डन न होने देनेवाली है, अतः तू भी इसका खण्डन न करना, इसे 'अघ्न्या' समझना।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्कृतिः। स्वरः—निषादः॥

ऊर्णायु+उष्ट्र (भेड़-ऊँट)

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्। त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्। उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥५०॥

१. **इमम्**=इस **ऊर्णायुम्**=(ऊर्णावन्तं) ऊनवाली भेड़ को भी **मा हिंसीः**=मत मार। यह **वरुणस्य नाभिम्**=(वृ to cover) आच्छादक-साधनों का केन्द्र है। सर्दी के निवारण के लिए तुझे इसी से उत्तम आच्छादक वस्त्र प्राप्त होने हैं। यह भेड़ तो इस प्रकार **द्विपदाम्**=दो पाँववाले व **चतुष्पदाम्**=चार पाँववाले **पशूनाम्**=पशुओं के लिए **त्वचम्**=त्वचा की भाँति रक्षण करनेवाली है। मनुष्य तो इन ऊनी वस्त्रों को धारण करके शीत से अपनी रक्षा करते ही हैं—घोड़े आदि की पीठ पर भी मार्दव के लिए ऊनी वस्त्र डाला जाता है। २. यह भेड़ वस्तुतः **प्रजानां त्वष्टुः**=प्रजाओं के निर्माता उस प्रभु की **प्रथमं जनित्रम्**=बड़ी उत्तम रचना है (of the first water)। यह मानव-हित के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्त्रों का साधन बनती है। ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! यह भेड़ भी तुझे **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट आकाश में स्थापित करनेवाली है, स्वास्थ्य की रक्षिका होकर सचमुच कल्याण करनेवाली है। ४. भेड़ को तो तूने मारना ही नहीं, मैं **आरण्यं उष्ट्रम्**=इस वन्य उष्ट्र को **ते**=तुझे **अनुदिशामि**=देता हूँ। **तेन**=उससे अपने हलों, कूओं व गाड़ियों को चलाता हुआ तू **तन्वः चिन्वानः**=अपने शरीर की शक्तियों को बढ़ाता हुआ **निषीद**=इस शरीर में निवास कर। ५. हाँ, **उष्ट्रम्**=उस आरण्य ऊँट को **ते शुक्**=तेरा क्रोध **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, परन्तु **तम्**=उसी आरण्य उष्ट्र को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसे हम नाशक होने से अप्रीतिकर समझते हैं।

भावार्थ—हम भेड़ की उपयोगिता समझें। ऊँट भी कितना उपयोगी है, परन्तु यदि वह पागल होकर ध्वंसक हो जाता है तब तो उसे समाप्त करना ही होता है।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्कृतिः। स्वरः—निषादः॥

अज-शरभ

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सोऽअपश्यज्जनितारमग्रे। तेन देवा देवतामग्रमायꣳस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः। शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥५१॥

१. **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों को दूर निराकृत करनेवाला जीव **हि**=निश्चय से **अग्नेः शोकात्**=प्रभु की ज्ञान-दीप्ति से **अजनिष्ट**=विकास को प्राप्त होता है, अर्थात् जब जीव निरन्तर कर्मों में लगा रहकर अपने से मलों को दूर रखता है तब उसके हृदय में प्रभु के ज्ञान का प्रकाश होता है, इस ज्ञान-प्रकाश से इसकी शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। २. **सः**=यह विकसित शक्तियोंवाला जीव **अग्रे**=अपने सामने **जनितारम्**=अपने पिता प्रभु को **अपश्यत्**=देखता है। इसे प्रभु का साक्षात्कार होता है। ३. **तेन**=उस प्रभु से ही **देवाः**=सब देव **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में **देवताम्**=देवत्व को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। सूर्यादि को वे प्रभु ही दीप्ति देते हैं। अग्नि आदि ऋषियों को भी

ज्ञान की दीप्ति देनेवाले वे प्रभु ही हैं। ४. **तेन**=उस प्रभु से ही **रोहम्**=वृद्धि को **आयन्**=प्राप्त होते हैं और **उप**=उस प्रभु के समीप रहते हुए **मेध्यासः**=पवित्र बने रहते हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में इस मन्त्र के पूर्वार्ध का अर्थ इस प्रकार है—१. **अजः**=यह उछलने-कूदनेवाली बकरी **अग्नेः शोकात्**=अग्नि की दीप्ति से प्रकट होती है—इसके शरीर व दूध आदि में उष्णता होती है। इसका सहवास—इनके बीच में उठना-बैठना—क्षयरोगी को भी फिर से शक्ति प्रदान करा देता है। २. **सः**=यह अजः=बकरी का दूध **अग्रे जनितारम्**=उस सृष्टि के उत्पादक प्रभु को **अपश्यत्**=दिखाता है (अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र दृशिः)। अत्यन्त सात्त्विक होने से यह दूध मानव-मन को बड़ा निर्मल कर देता है, उस निर्मल मन में प्रभु-दर्शन सम्भव होता है। २. **तेन**=इसी अजा-पय से—बकरी के दूध से **देवाः**=सब देव—विद्वान् **देवताम्**=ज्ञान-दीप्ति को **अग्रे आयन्**=सर्वप्रथम प्राप्त करते हैं। इससे बुद्धि तीव्र होती है। ४. **तेन**=इस दूध से **रोहम्**=शक्ति की वृद्धि को अथवा सर्वाङ्गीण उन्नति को **आयन्**=प्राप्त होते हैं और **मेध्यासः**=पवित्र बनकर **उप**=उस प्रभु के समीप पहुँचते हैं। एवं, अत्यन्त उपयोगी होने से यह बकरी तो अहन्तव्य है ही। प्रभु कहते हैं कि ५. **आरण्यं शरभम्**=इस वन्य शरभ को **ते**=तुझे **अनुदिशामि**=देता हूँ। **तेन** =उससे **तन्वः**=शरीर की शक्तियों का **चिन्वानः**=चयन करता हुआ **निषीद**=तू इस शरीर में स्थित हो। ६. **ते शुक्**=तेरा क्रोध **शरभम्**=कृषि-विनाशक शरभ को **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, **तम्**=उसी शरभ को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसे कृष्यादि विनाश के कारण हम अप्रिय समझते हैं।

भावार्थ—हम 'अज' की रक्षा करें। अप्रीतिकर हानिकर शरभ को दूर करें।

सूचना—परमं वै एतत् पयः यदजाक्षीरम्—तै० ५।१।७=सबसे बढ़कर यह दूध है जो बकरी का दूध है।

आग्नेयी वा एषा यदजा—तै० ३।७।३।१—यह अजा अग्नितत्त्व प्रधान है। **सा अजायत् त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन परमःपशुः**—श० ३।३।३।८ यह अजा वर्ष में तीन बार जनती है, अतः परम पशु है।

अजा ह सर्वा ओषधीरत्ति—श० ६।५।४।१६ यह अजा सब ओषधियों का सेवन करती है, तभी इसका दूध 'सर्वरोगापह' होता है।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

उशना की जीवन-सिद्धान्त-त्रयी

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना॥५२॥

१. पिछले मन्त्रों के अनुसार विरूप=पदार्थों का विशिष्ट रूप से निरूपण करनेवाला व्यक्ति सभी में प्रभु का वास अनुभव करता हुआ सभी का भला चाहता है—सबके साथ बन्धुत्व का अनुभव करता है। सभी का भला चाहने से ही 'उशनाः' (कामयमानः) नामवाला होता है। प्रभु इससे कहते हैं कि—२. **यविष्ठ**=हे बुराइयों को अपने से सुदूर करके अच्छाइयों को अपने से सम्पृक्त करनेवाले! (यु मिश्रणामिश्रणयोः) **त्वम्** =तू **दाशुषः नॄन्**=तेरे प्रति अपना समर्पण करनेवाले लोगों को **पाहि**=सुरक्षित कर। तू शरणागत की रक्षा करनेवाला बन। ३. **गिरः शृणुधी**=तू सदा ज्ञान की वाणियों को सुननेवाला बन। ये ज्ञान की वाणियाँ तेरे जीवन में पवित्रता बनाये रक्खेंगी, ये तेरे मस्तिष्क का भोजन होंगी, तेरे विचार दुर्बल न होंगे। यह नैत्यिक स्वाध्याय ही तेरा अध्यात्म-भोजन होगा और तुझे बड़ा

ऊँचा उठानेवाला होगा। ४. **उत**=और **त्मना**=स्वयं **तोकम्**=सन्तान की **रक्ष**=रक्षा करनेवाला बन। अपने सन्तान की रक्षा का भार नौकरों पर मत डाल देना। अन्य कार्यों में लगे रहकर सन्तान-निर्माण की उपेक्षा से तेरी सन्तान विकृत जीवनवाली होकर समाज के लिए भार हो जाएगी, अतः समाज-निर्माण से तूने सन्तान-निर्माण को अधिक महत्त्व देना।

भावार्थ—उशना=हित की कामनावाले के तीन मौलिक सिद्धान्त होने चाहिए—(१) शरणागत की रक्षा (२) ज्ञान को नैत्यिक भोजन समझना। (३) स्वयं सन्तानों का संरक्षक बनना।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः[उ], ब्राह्मीजगती[क], निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[उ॰र], निषादः[क]॥

ज्ञान-विज्ञान

[उ]अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्मन्त्सादयाम्यपां त्वा भस्मन्त्सादयाम्यपां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि [क]सरिरे त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा सधिषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपां त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पार्थसि सादयामि [र]गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥५३॥

१. प्रभु (सबका भला चाहनेवाले) उशना से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **अपाम् एमन्**=वायु में (वायुर्वा अपामेम—श० ७।५।२।४६) **सादयामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् तुझे वायु के ज्ञान में परिनिष्ठित करता हूँ। 'वायु' का मानव-जीवन से सर्वाधिक सम्बन्ध है। इसके बिना एक पल भी जीवन का चलना सम्भव नहीं रहता, अतः वायुविद्या को सम्यग् जानकर शुद्ध वायु के सेवन से हमें अपने जीवन को 'सत्य, शिव व सुन्दर' बनाना है। २. **त्वा**=तुझे **अपाम् ओद्मन्**=(ओषधयो वा अपामोद्म—श० ७।५।२।४७) ओषधियों में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। ओषधि-विज्ञान में परिनिष्ठित करता हूँ। इनका विज्ञान तुझे इनके रसों के समुचित प्रयोग में समर्थ करेगा। इनके समुचित प्रयोग से तू मलों का दहन करता हुआ पूर्ण स्वस्थ बनेगा। ३. **त्वा**=तुझे **अपां भस्मन्**=(अभ्रं वा अपां भस्म—श० ७।५।२।४८) इन मेघों में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इन मेघों की विद्या को समझने पर जहाँ इनमें तुझे प्रभु की महिमा दिखेगी, वहाँ तू इन मेघ-जलों को ही 'अमरवारुणी'=देवताओं की मद्य जानकर उसका प्रयोग करता हुआ हर्षयुक्त जीवनवाला होगा। ४. **त्वा**=तुझे **अपां ज्योतिषि**=(विद्युद्वा अपां ज्योतिः—श० ७।५।२।४९) विद्युत् में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। विद्युत् के ज्ञान का अधिपति बनकर तू विद्युत् द्वारा अपने यन्त्रों को चलाता हुआ ऐश्वर्य की वृद्धि करनेवाला बनेगा। ५. **त्वा**=तुझे **अपाम् अयने**=(इयं वा अपाम् अयनम्—श० ७।५।२।५०) इस पृथिवी के ज्ञान में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस पृथिवी के ज्ञान से तू इसके द्वारा सब वस्तुओं को, निवास के लिए आवश्यक वस्तुओं को—प्राप्त करेगा। यह पृथिवी तो 'वसुन्धरा' है। ६. **त्वा**=तुझे **अर्णवे सदने**=(प्राणो वा अर्णवः—श० ७।५।२।५१) इस प्राणरूप घर में

सादयामि=बिठाता हूँ। प्राणविद्या में परिनिष्ठत होकर तू इन प्राणों को प्रबल बनानेवाला होगा। ये प्रबल प्राण तुझपर होनेवाले रोगों के आक्रमणों से तुझे बचानेवाले होंगे। ७. **त्वा**=तुझे **समुद्रे सदने**=(मनो वै समुद्रः—श० ७।५।२।५२) मनरूप सदन में **सादयामि**=बिठाता हूँ। इस मन की विद्या को अच्छी प्रकार समझकर जहाँ मनोनिरोध से तू अपनी ऊँचे-से-ऊँची स्थिति को प्राप्त करनेवाला होगा, वहाँ तू व्यावहारिक दोषों से भी बचा रहेगा। तू औरों की मनोवृत्ति को ठीक समझने के कारण ठीक ही बर्ताव करने में समर्थ होगा। ८. **त्वा**=तुझे **सरिरे सदने**=(वाग् वै सरिरम्—श० ७।५।२।५३) वाणीरूप सदन में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस वाणी का पूर्ण प्रभु बनकर जहाँ तू शत्रुओं के लिए घोर स्थिति का सर्जन करनेवाला होता है (ययैव ससृजे घोरम्), वहाँ अपनों के लिए शान्त वायुमण्डल को प्रस्तुत करता है (तयैव शान्तिरस्तु नः) ९. **त्वा**=तुझे **अपां क्षये**=(चक्षुर्वा अपांक्षयः—श० ७।५।२।५४) चक्षु में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस चक्षु के रहस्य को तूने समझना है। इसके महत्त्व को जानकर तू निश्चय से बहु-द्रष्टा बनने का प्रयत्न करेगा। सब ज्ञानों के मूल में यह दर्शन (observastion) ही होता है। १०. **त्वा**=तुझे **अपां सधिषि**=(श्रोत्रं वा अपांसधिः—श० ७।५।२।५५) श्रोत्र में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। श्रोत्र के महत्त्व को जानकर तू 'बहुश्रुत' बनेगा। 'सुनना अधिक बोलना कम' इस रहस्य को हृदयङ्गम करके तू संसार में यशस्वी भी होगा। ११. **त्वा**=तुझे **अपां सदने**=(द्यौर्वा अपां सदनम्—श० ७।५।२।५६) द्युलोक में—शरीरस्थ मस्तिष्क में-**सादयामि**=स्थापित करता हूँ। मस्तिष्क के तत्त्व को समझकर तू इस मस्तिष्क के द्वारा अपने को ऊपर ले-जानेवाला बनेगा। १२. **त्वा**=तुझे **अपां सधस्थे**=(अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्—श० ७। ५।२।५७) अन्तरिक्ष में—शरीरस्थ इस हृदयान्तरिक्ष में—**सादयामि**=स्थापित करता हूँ। तू सदा मध्यमार्ग में चलता हुआ इस हृदयान्तरिक्ष को पवित्र करता है और वहाँ प्रभु का दर्शन करने के लिए प्रयत्नशील होता है। १३. **त्वा**=तुझे **अपां योनौ**=(समुद्रो वा अपां योनिः—श० ७।५।२।५८) समुद्र में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। समुद्र-विद्या में निपुण बनकर जहाँ तू विविध जलचरों का ज्ञान प्राप्त करता है, वहाँ इस रत्नाकर से विविध रत्नों का पानेवाला बनता है। १४. **त्वा**=तूझे **अपां पुरीषे**=(सिकता वा अपां पुरीषम्—श० ७।५।२।५९) इन रेत के कणों में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस रेत-विद्या को जानकर हम इससे विविध लाभों को प्राप्त करनेवाले होते हैं। यह रेत जलों का मलरूप है—पत्थरों पर पानी पड़-पड़कर इसका निर्माण होता है। ये जहाँ मकान आदि के निर्माण में उपयुक्त होती है, वहाँ इसमें निहित स्वर्णकणों को भी हम प्राप्त करनेवाले बनते हैं। १५. **त्वा**=तुझे **अपां पाथसि**=(अन्नं वा अपां पाथः—श० ७।५।२।६०) अन्न में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। अन्न-विद्या को समझकर तू उपयुक्त अन्न का सेवन करता हुआ स्वस्थ बनता है। तू सात्त्विक अन्न के सेवन से अन्तःकरण को सात्त्विक बनाता है। १६. **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राण-रक्षा की इच्छा के साथ मैं **सादयामि**=इस शरीर में स्थापित करता हूँ। इस शरीर में रहने के लिए 'गायत्रछन्द'=प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल कामना के महत्त्व को मैं तुझे समझाता हूँ। १७. मैं **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**='काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों को रोकने की इच्छा के साथ **सादयामि**=बिठाता हूँ। जीवन के लिए 'काम, क्रोध व लोभ' को रोकने के महत्त्व को मैं तुझे हृदयङ्गम करा देता हूँ। १८. **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=लोकहित की प्रबल कामना के साथ **सादयामि**=इस शरीर में

बिठाता हूँ। यह तुझे अच्छी प्रकार स्पष्ट कर देता हूँ कि जीवन का अन्तिम उद्देश्य लोकहित की साधना ही है। १९. मैं **त्वा**=तुझे **आनुष्टुभेन छन्दसा**=प्रतिक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा के साथ **सादयामि**=इस शरीर में बिठाता हूँ। तुझे यह समझा देता हूँ कि 'प्रभु को भूले और ग़लती हुई', अतः इस जीवन में प्रभु का स्मरण करते हुए ही चलना है। २०. अन्त में **त्वा**=तुझे **पाङ्क्तेन छन्दसा**=पाँच को ठीक रखने की प्रबल कामना के साथ **सादयामि**=इस शरीर में स्थापित करता हूँ। तूने इस शरीर में अपने निवास को उत्तम बनाने के लिए पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखना है—पाँचों कर्मेन्द्रियों को उत्तम कर्मों में लगाये रखना है। पाँचों प्राणों की शक्ति को ठीक रखना है। पाँचभौतिक शरीर में पाँचों पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश की स्थिति को ठीक रखना है। 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' इन पाँच भागों में बटे हुए समाज की स्थिति को भी उत्तम बनाने का विचार करना है। मन की पञ्चतयी क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों को समझकर उन्हें अच्छा बनाना है। 'क्लेश, कर्म, विपाक, आशय व जन्म-मरण चक्र' से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील होना है। पञ्चधा विभक्त कर्मों में सदा अपने को व्यापृत रखना है।

भावार्थ—हम मन्त्र में वर्णित २० भागों में विभक्त ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। व्यर्थ की बातों में दिमाग़ को ख़राब करके 'मोघज्ञान' न बन जाएँ।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—प्राणाः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

अग्नि (पुरो भुवः) प्राण-ग्रहण=वसिष्ठ

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनो गायत्री वासन्ती गायत्र्यै गायत्रं गायत्रादुपाꣳशुरुपाꣳशोस्त्रिवृत्त्रिवृतो रथन्तरं वसिष्ठऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५४॥

१. **अयम्**=यह **पुरः भुवः**=पूर्व दिशा में होनेवाला अग्नि है (भवति सर्वरूपेण, भवत्यस्मत् सर्वमिति वा भुवः अग्निः—श० ८।८।१।४। अग्निर्वै पुरः प्राञ्चं ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्ति, अग्निर्वै भुवः, अग्नेर्हीदं सर्वं भवति) वस्तुतः यह मनुष्य को अग्नितुल्य बनने का उपदेश दे रहा है। जब मनुष्य अपने अन्दर वीर्य की रक्षा करता है तब यह अग्नितत्त्व ठीक बना रहता है। २. **तस्य**=उसी अग्नि का अपत्य **प्राणः**=प्राण है। इसी से **भौवायनः**=भुव का अपत्य कहलाता है। अग्नि-तत्त्व के अनुपात में ही प्राणशक्ति बनी रहती है। ३. **प्राणायनः**=प्राण का पुत्र **वसन्तः**=वसन्त है। प्राणशक्ति के होने पर इसके जीवन में सर्वशक्तियों के पुष्प-फलों का विकास होता है। अथवा इस शरीर में इसका उत्तम निवास इस प्राणशक्ति से ही होता है। ४. **वासन्ती** =इस वसन्त की सन्तान **गायत्री**=इस शरीररूप गृह की रक्षिका है। (गय=गृह)। शरीर में सब अङ्गों की शक्तियों का समुचित निवास होने पर ही इस शरीररूप गृह की रक्षा सम्भव है। ५. **गायत्र्यै** (गायत्र्यः) इसी गायत्री से, शरीर-रक्षा से **गायत्रम्**='गायत्रसाम' उत्पन्न होता है। वह शान्ति उत्पन्न होती है जिसका मूल शरीर-रक्षा ही है। स्वस्थ शरीर में ही वस्तुतः स्वस्थ व शान्त मन का निवास है। ६. **गायत्रात्**=स्वास्थ्यजनित शान्ति से ही वस्तुतः **उपांशुः**=(उप+अंशु) उस परमेश्वर की उपासना द्वारा ज्ञान-किरणें उपलब्ध होती हैं। ७. **उपांशोः**=उपासना द्वारा प्राप्त ज्ञान-किरणों से **त्रिवृत्**=धर्म, अर्थ व काम तीनों का सुन्दर वर्त्तन होता है (त्रि+वृत्) (धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः) ८. **त्रिवृत्**=इस धर्मार्थकाम के समानुपात में होने से अथवा 'ज्ञान-कर्म-उपासना'

के ठीक रूप में चलने से **रथन्तरम्**=इस शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा की पूर्ति (भवसागर को तैर जाना) होती है। ९. रथन्तर सामवाला व्यक्ति 'वसिष्ठ ऋषि' (अतिशयेन वसति) अत्यन्त उत्तम निवासवाला—प्राणशक्ति-सम्पन्न (प्राणो वै वसिष्ठः—श० ८।१।१।६) तत्त्वद्रष्टा है। १०. यह तत्त्वद्रष्टा पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**= (प्रजापतिःगृहीतो यया) मुझ प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया** =तेरे साथ **प्राणं गृह्णामि**=मैं प्राणशक्ति का ग्रहण करता हूँ, जिससे **प्रजाभ्यः**=हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाले पति को स्वीकार करे। दोनों ने मिलकर उत्तम सन्तानों को जन्म देना है। इसी उद्देश्य से वे अपनी प्राणशक्ति का निरोध करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम पूर्व दिशा के अधिपति अग्नि को अपनाकर अपने में प्राणशक्ति का धारण करते हुए उत्तम प्राणशक्ति-सम्पन्न सन्तानों को जन्म देनेवाले बनें।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

वायु (दक्षिणा विश्वकर्मा) मनो-ग्रहण=भरद्वाज

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणं ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुब्ग्रैष्मी त्रिष्टुभः स्वारꣳस्वाराद न्तर्यामो ऽन्तर्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद् भरद्वाजऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५५॥

१. **अयम्**=यह **दक्षिणा विश्वकर्मा**=(अयं वै वायुर्विश्वकर्मा एष हीदं सर्वं करोति, तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति—श० ८।१।१।७) दक्षिणा का अधिपति सब कर्मों को करनेवाला वायु है। यह सब कालों में बहता ही रहता है, रुकता नहीं। २. **तस्य वैश्वकर्मणं मनः**=उस वायु-विश्वकर्मा का सन्तान मन है। सदा कर्मों में लगे रहना ही मन को स्वस्थ बनाये रखने का साधन है। ३. **मानसः ग्रीष्मः**=मन की सन्तान वाणी है, उत्साह है। सारा उत्साह मानस स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। ४. **ग्रैष्मी त्रिष्टुप्**=इस उत्साह की सन्तान त्रिष्टुप् है—काम, क्रोध व लोभ का रोकना है। अध्यात्म उन्नति का उत्साह बने रहने पर ही काम, क्रोध व लोभ का रोकना निर्भर है। इन्हें सरलता से रोका नहीं जा सकता, इनके रोकने के लिए निरन्तर दीर्घकाल तक प्रयत्न अपेक्षित है—वह प्रयत्न उत्साह बने रहने पर ही सम्भव होगा। ५. **त्रिष्टुभः**=इस काम, क्रोध व लोभ के रोकने (stopping) से **स्वारम्**=(स्वयं राजते) स्वयंराजमानता=स्वशासन=अपराधीनता—इन्द्रियादिकों की ग़ुलामी का न होना होता है। ६. **स्वारात्**=इस स्वयंराजमानता से **अन्तर्यामः**=अन्दर का नियमन होता है। वस्तुतः स्वयंराजमानता का ही स्पष्टीकरण 'अन्तर्यामः' है। इसी से मनुष्य अन्तःस्थ इन्द्रियादि का नियमन करता है। ७. इस **अन्तर्यामात्**=अन्तर्याम से **पञ्चदशः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों को स्वाधीन करनेवाला यह व्यक्ति पञ्चदश बनता है। ८. **पञ्चदशात्**=इस पञ्चदश बनने से यह **बृहत्**=सदा वृद्धिशील होता है। ९. यह वृद्धिशील व्यक्ति **भरद्वाजः ऋषिः**=अपने में शक्ति व ज्ञान को भरनेवाला तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. यह तत्त्वद्रष्टा पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **मनः गृह्णामि**=मैं अपने मन का निग्रह करता हूँ, **प्रजाभ्यः**=जिससे हम उत्तम सन्तानों को जन्म दे सकें। विक्षिप्त मनवालों के सन्तान विक्षिप्त-से ही होंगे।

भावार्थ—हम इस दक्षिणा के अधिपति वायु के समान सदा, सब कर्मों के अधिपति होते हुए उत्तम क्रियाशील, जितमनाः=मनस्वी सन्तानों को ही जन्म देनेवाले हों।

ऋषिः—उशनाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृदतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

आदित्य (पश्चात् विश्वव्यचाः) चक्षु-ग्रहण=जमदग्नि

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं वर्षाश्चाक्षुष्यो जगती वार्षी जगत्याऽऋक्सममृक्समाच्छुक्रः शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५६॥

१. **अयम्**=यह **पश्चात् विश्वव्यचाः**=(असौ वादित्यो विश्वव्यचाः यदाह मैवेष उदेति अथेदं सर्वं व्यचो भवति पश्चादिति एतं प्रत्यञ्चमेदमन्तं पश्यन्ति—श० ८।१।२।१) पूर्व में उदय होकर निरन्तर पश्चिम की ओर चलनेवाला, सम्पूर्ण संसार को व्यक्त करनेवाला सूर्य है। इस सूर्य का ध्यान करके मनुष्य ने भी सदा आगे बढ़ते हुए पीछे न लौटने का पाठ पढ़ना है—इन्द्रियों का प्रत्याहार करना है। २. **तस्य वैश्वव्यचसं चक्षुः**=उस मनुष्य की आँख भी इस सूर्य की सन्तान बनती है। सूर्य की भाँति ही वस्तुओं की प्रकाशक होती है। ३. **चक्षुष्यः वर्षाः**=इसकी चक्षु की सन्तान वर्षा होती है, अर्थात् इसका ज्ञान औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ४. **जगती वार्षी**=इसकी ज्ञान-वर्षा लोकहित करनेवाली होती है। ५. **जगत्या ऋक्सममम्**=इस लोकहित के द्वारा ही (ऋच् स्तुतौ) इसका विज्ञान-पूर्वक स्तवन चलता है (वह साम जो विज्ञान के साथ है 'ऋक्सम्' कहलाता है)। ६. **ऋक्समात्** (ऋचः सन्ति सम्भजन्ति येन—द०)=इस विज्ञानपूर्वक स्तवन से ही **शुक्रः**=यह (शुच्) अत्यन्त शुद्ध बनता है। ७. **शुक्रात्**=इस शुद्ध बनने से **सप्तदशः**=यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन व बुद्धि इन १७ तत्त्वोंवाला होता है। इन सत्रह को यह उत्तम बना पाता है। ९. इस विशिष्ट रूप से ये **जमदग्निर्ऋषिः**=(जमति जगत् पश्यति इति जमद् अङ्गति सर्वत्र गच्छति इति अग्निः) केवल अपने हित को न देखकर सभी के हित को देखनेवाला क्रियाशील तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. यह जमदग्नि पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **चक्षुःगृह्णामि**=चक्षु का ग्रहण करता हूँ, जिससे हम **प्रजाभ्यः**=उत्तम सन्तान को प्राप्त करनेवाले हों। संसार में हमारा दृष्टिकोण ठीक हो, हमारा ज्ञान ठीक हो तथा ये चक्षु हमारे वश में हो तो सन्तानों का उत्तम होना स्वाभाविक ही है।

भावार्थ—हम निरन्तर पश्चिम की ओर चलनेवाले सूर्य के समान ज्ञान व प्रकाश के अधिपति हों। अपनी चक्षु को वश में करके उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—उशनाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

दिशाएँ (उत्तरात् स्वः) श्रोत्र-ग्रहण=विश्वामित्र

इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रꣳसौवꣳशरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभऽ ऐडमैडान्मन्थी मन्थिनऽएकविꣳशऽएकविꣳशाद् वैराजं विश्वामित्रऽ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५७॥

१. **इदम्**=यह **उत्तरात्**=उत्तर की ओर **स्वः**=दिशाएँ अधिपति रूपेण हैं। (स्वर्गो हि लोको दिशः—श० ८।१।२।४)। ये दिशाएँ निर्देशों का—उपदेशों का प्रतीक हैं—प्रत्येक दिशा एक बोध दे रही है 'प्राची' आगे बढ़ने का तो 'दक्षिणा'—दाक्षिण्य का, **'प्रतीची'**=प्रत्याहार का और उदीची (उत्तरा) उन्नति का तथा अन्त में 'ऊर्ध्वा'—सर्वोत्कृष्ट स्थिति का उपदेश

कर रही है, अतः २. **तस्य**=उपासक का **श्रोत्रम्**=श्रोत्र **सौवम्**=स्वः का सन्तान होता है—इसका श्रोत्र दिशाओं के उपदेश को सुनता है। ३. **श्रौत्री शरत्**=इसके जीवन में श्रोत्र—सुनने की सन्तान शरत् होती है, अर्थात् यह दिशाओं के इन उपदेशों को सुनता हुआ अपने सब पापों को शीर्ण करनेवाला होता है। ४. **शारदी अनुष्टुभः**=पापों की शीर्णता से प्रतिक्षण इसका प्रभु-स्तवन चलता है, अर्थात् इसका प्रभु-स्तवन यही है कि यह बुराइयों को अपने से दूर करता है। ५. **अनुष्टुभः**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन से **ऐडम्**=(इडायाः ज्ञानम्)=इस वेदवाणी का ज्ञान होता है—हृदयदेश में ज्ञान का प्रकाश होता है। **ऐडात्**=इस वाणी के ज्ञान से यह **मन्थी**=मन्थन व चिन्तन करनेवाला बनता है। **मन्थिनः**=इस मन्थन से **एकविंशः**=यह त्रिगुणासप्त (ये त्रिषप्तः) शक्तियोंवाला होता है। ८. **एकविंशात् वैराजम्**=इन इक्कीस शक्तियों से यह विशिष्ट रूप से चमकनेवाला बनता है। ९. यह विशेष रूप से चमकनेवाला **विश्वामित्र ऋषिः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. और पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=प्रजापति का ग्रहण करनेवाली, प्रभु का ध्यान करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **श्रोत्रं गृह्णामि**=मैं इस कान को वश में करता हूँ, **प्रजाभ्यः**=जिससे हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—दिशाओं के उपदेश को सुनते हुए हम श्रोत्र को पूर्णरूप से वश में करके कभी अशुभ का श्रवण न करें, जिससे हमारी सन्तानें उत्तम ही हों।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—विराडाकृतिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

मतिः (उपरिमतिः) वाग्-ग्रहण, विश्वकर्मा

इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ् मात्या हेमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हैमन्ती पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवतऽआग्रयणऽआग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्यांꣳशाक्वररैवते विश्वकर्मऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः॥५८॥

१. **इयम्**=यह **उपरि मतिः**=ऊर्ध्वदेश में स्थित चन्द्रमा है (मन्येत यया—मतिः—उव्वट, 'चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्', 'यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति')—मन सर्वोपरि है, वह मन जो आह्लादमय है २. **तस्य** (तस्याः) **वाङ् मात्या**=उसी की सन्तान यह वाणी है, इसी से इसे 'मात्या' कहा गया है (मतेः इयम्)। वस्तुतः वाणी सदा विचारपूर्वक ही उच्चरित होनी चाहिए। ३. **वाच्यः**=वाणी की सन्तान ही **हेमन्तः**=हेमन्त है (हि गतौ वृद्धौ) सब प्रकार की गति, कर्म व वृद्धि इस वाणी का ही परिणाम है (यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति)। ४. **पंक्तिः हैमन्ती**=हेमन्त का—गति व वृद्धि का ही परिणाम 'पंक्ति' है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ व पाँच प्राण ये गति से ठीक रहते हैं। क्रियाशीलता ही इनके स्वास्थ्य का रहस्य है। ५. **पङ्क्त्यै** =ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय व प्राण पञ्चकों के स्वास्थ्य से **निधनवत्**=निधनवत् साम उत्पन्न होता है। यह निधनवत् साम अध्यात्म-शत्रुओं का निधन ही है। ६. **निधनवतः**=इस शत्रु-निधन से ही **आग्रयणाः**=यह अग्रगति का सन्तान, अर्थात् अत्यन्त उन्नतिवाला होता है। ७. **आग्रयणात्**=इस निरन्तर अग्रगति से **त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ**=त्रि+णव अर्थात् बारह विश्वेदेवों की इसमें उत्पत्ति होती है। सब दिव्य गुणों का इसमें जन्म होता है और **त्रयस्त्रिंश**=(३+३०) ३३ प्राकृतिक देव इसमें विराजमान होते हैं। सूर्य चक्षुरूप से, चन्द्रमा मनरूप से और अग्नि वाणीरूप से इसमें निवास करती है। इसी प्रकार 'सर्वा

ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवसाते' सारे ही देवता इसमें आकर स्थित होते हैं। ८. **त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्याम्**=इन बारह अध्यात्म दिव्य गुणों से तथा ३३ प्राकृतिक देवों से **शाक्वररैवते**=शाक्वर व रैवत की स्थिति होती है। यह अध्यात्म-गुणों से शक्तिशाली बनता है तो प्राकृतिक शक्तियों से स्वास्थ्य की सम्पत्तिवाला होता है। ९. शक्ति व स्वास्थ्य को पाकर यह **विश्वकर्मा**=निर्माण के सब कर्मों को करनेवाला **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. यह तत्त्वद्रष्टा अपनी पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=मुझ प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **वाचं गृह्णामि** =मैं वाणी का ग्रहण करता हूँ, ज्ञानोपार्जन व योगाभ्यास करनेवाला बनता हूँ, जिससे हम **प्रजाभ्यः**=उत्तम सन्तानोंवाले हों।

भावार्थ—हम सर्वोपरि स्थित मानस-आह्लाद (चन्द्र=चदि आह्लादे) को अपनाकर मधुर वाणीवाले हों। इस वाणी को वश में करके उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। यही मार्ग हमें उत्तम लोक व प्रभु को भी प्राप्त कराएगा।

सूचना—१. ऊपर के पाँच मन्त्रों में 'प्रजापतिगृहीतया' शब्द की भावना (प्रजापतिः ग्राहयति यां तया) यह भी है कि पत्नी का हाथ प्रभु ही पकड़ाते हैं। 'ये सब सम्बन्ध स्वर्ग में बनते हैं' का यही भाव है, अतः इस सम्बन्ध की पवित्रता को हमें समझना चाहिए।

२. सन्तानों की उत्तमता के लिए 'प्राण, मन, चक्षु, श्रोत्र व वाक्' इन पाँचों का निग्रह—वशीकरण आवश्यक है। इस निग्रह को करनेवाला ही क्रमशः 'वसिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि, विश्वामित्र व विश्वकर्मा बनता है। ये ऋषि क्रमशः 'अग्नि, वायु, आदित्य, दिशाओं व चन्द्र' के अधिपति होते हैं।

॥ इति त्रयोदशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥